श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

(स्तुतिपरक जैनागम)

[समन्तभद्र-भारतीका एक प्रमुख अङ्ग]

अनुवादक और परिचायक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथम संस्करण १००० | आषाढ, वीर नि० संवत् २४७७ वि० सं० २००८, जुलाई १९५१ | मूल्य दो रुपये

विषयानुक्रम

कुल पृष्ठसंख्या—२१६

रामा प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाजार, देहली

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !

तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामी समन्तभद्र ! आपकी यह अनुपम-कृति 'स्वयम्भूस्तोत्र' मुझे आजसे कोई ५० वर्ष पहले प्राप्त हुई थी। उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्यवस्तु बनी हुई है और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके यत्न-द्वारा इसका विशेष परिचय प्राप्त करनेमें लगा रहा हूँ। मुझे वह परिचय कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गम्भीर पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवाद तथा परिचयात्मक प्रस्तावनासे जाना जा सकता है और उसे पूरे तौर-पर तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपका आराधन करते हुए आपके ग्रन्थोंसे, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, ये दोनों कृतियां उसीका प्रतिफल हैं। इनमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होनेसे वास्तवमें ये आपकी ही चीज हैं और इसलिये आपको ही सादर समर्पित हैं। आप लोक-हितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसादसे इन कृतियों-द्वारा यदि कुछ भी लोक-हितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके भारी ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूँगा।

विनम्र

जुगलकिशोर

सुफल

सन् १९३९ में श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता-का भतीजा चि० चिरञ्जीलाल सख्त बीमार पड़ा था, कलकत्ताके सुप्रसिद्ध वैद्यों तथा डाक्टरोंने जवाब दे दिया था और उसे घंटे दो घंटेका मेहमान बतलाया था। इस निराशाके वातावरणमय कठिन अवसरपर बाबू साहबने शुद्ध हृदयसे भ० स्वामी समन्त-भद्रका स्मरण करके रोगीके आरोग्यकी कामना की और अपनी ओरसे ५००) रु० के दानका संकल्प किया। उसी समयसे रोगी-के रोगने पलटा खाया और वह वैद्यों-डाक्टरोंको आश्चर्यमें डालता हुआ शीघ्र ही नीरोग हो गया। अतः बाबू साहबने तभी पांचसौ रुपयेकी उक्त रकम अपने संकल्पानुसार वीरसेवामन्दिर सरसावाको ग्रन्थ-प्रकाशन-जैसे पुण्य-कार्यकी सहायतार्थ दानमें भेज दी थी। स्वामी समन्तभद्रके प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्नका यह प्रका-शन उसी दानका एक सुन्दर सुमधुर फल है। आशा है बाबू छोटेलालजी इस सुफलको पाकर और इसके दर्शन, स्पर्शन, सुगन्ध-सेवन एवं रसास्वादन-द्वारा दूसरोंको भी लाभान्वित होता हुआ देखकर प्रसन्न होंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशकीय वक्तव्य

यह 'स्वयम्भूस्तोत्र' अपने अनुवादके साथ बहुत अर्सा हुआ छपचुका था, देहली प्रेसमें ही रक्खा हुआ था और प्रकाशनके लिये 'प्रस्तावना' की बाट जोह रहा था। ग्रन्थके मर्मका उद्घाटन करते हुए इसकी प्रस्तावनाको मैं जिस रूपमें लिखना चाहता था उसके अनुरूप मुझे यथेष्ट अवसरके साथ चित्तकी स्थिरता और निराकुलता नहीं मिल रही थी—मैं निरन्तर ही कुछ ऐसी परिस्थितियों एवं अनवकाशोंसे घिरा रहा हूँ जिनके कारण हृदय तथा कागज पर कुछ नोटोंके अंकित रहते हुए भी अभीष्ट प्रस्तावनाके लिखनेमें मेरी प्रवृत्ति नहीं हो सकी। सचमुचमें किसी विशिष्ट साहित्यका सृजन अथवा सरस्वती देवीकी मूर्तिके अङ्ग-विशेषका निर्माण अपने लिये बहुत कुछ अनुकुलताओंकी आवश्यकता रखता है, वे जब तक नहीं मिलतीं तब तक इच्छा रहते भी यथेष्ट कार्य नहीं हो पाता। यही वजह है कि इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आशातीत विलम्ब हो गया है और उसके कारण कितने ही पाठकोंको बहुत कुछ प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है, जिसका मुझे भारी खेद है। परन्तु मैं अपनी परिस्थितियोंके कारण मजबूर था। यदि प्रकाशनका अधिकारी कोई दूसरा होता तो यह ग्रन्थ कभीका बिना प्रस्तावनाके ही प्रकाशित हो जाता। परन्तु प्रस्तावना-लेखक और प्रकाशनका अधिकारी दोनों मैं ही ठहरा, और मैंने इस सानुवाद ग्रन्थको अपनी प्रस्तावनाके बिना प्रकाशित करना उचित नहीं समझा, इसीसे प्रकाशनको इतने विलम्बका मुँह देखना पड़ा है। अस्तु; जब विलम्ब असह्य हो उठा तब जैसे तैसे कुछ समय निकालकर और अपनी शक्तिको इधर-उधरसे बटोरकर मैं प्रस्तावनाके लिखने

में प्रवृत्त हो सका हूँ। प्रस्तावना कैसी लिखी गई और वह ग्रन्थका ठीक परिचय कराने तथा उसकी उपयोगिताको स्पष्ट करनेमें कहाँ तक समर्थ है, इसे तो विज्ञ पाठक ही जान सकेंगे, मैं तो यहाँ पर सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस प्रस्तावनाके पीछे शक्तिका जितना व्यय हुआ है और उसके द्वारा जितना वस्तुतत्त्व अथवा प्रमेय पाठकोंके सामने लाया गया है उसे देखते हुए यदि प्रेमी पाठकजन प्रतीक्षाजन्य कष्टको भुला-देंगे और ग्रन्थके महत्वका अनुभव करते हुए यह महसूस करेंगे कि हमने ग्रन्थको परखनेकी कसौटी तथा उसके अन्तः-प्रवेशकी कला आदिके रूपमें कोई नई चीज प्राप्त की है तो मैं अपनेको सफलपरिश्रम और कृतकार्य हुआ समझूँगा और तब मुझे भी इस ग्रन्थके विलम्बसे प्रकाशित होनेका कोई खेद नहीं रहेगा।

आशा है प्रेमी पाठकजन इस अनमोल ग्रन्थरत्नसे स्वयं लाभ उठाते हुए, लोकहितकी दृष्टिसे इसके प्रचार और प्रसार-में अपना पूर्णसहयोग प्रदान करेंगे और इस तरह दूसरोंको भी इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर देनेमें समर्थ होंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

शुद्धि-विधान

(१) छपनेमें कुछ अशुद्धियां हो गई हैं, जिनका संशोधन निम्न प्रकार है, पाठक पहले ही सुधार लेनेकी कृपा करें :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	अपने	अपनी
”	४	हाथोंसे	किरणोंसे
”	१५	देश,	(देश,
”	१६	जानकर,	जानकर)
५	१४	वर्गश्चकार	वर्ग-
”	१५	नामा	श्चकार नामा
७	५	ज्येष्ठं	×
”	६	जनाः	ज्येष्ठं जनाः
१०	७	शतह्रदोन्मेष	शतह्रदोन्मेष
१२	६	द्वयेन	×
”	७	नैर्ग्रन्थ्य-	द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य-
१९	१५	प्रणयनके द्वारा	प्रणयनको लेकर
२२	२०	बिजहर्ष	विजहर्ष
२४	१	अङ्गगमं	अजङ्गमं
३२	२४	तद्	त्वद्
३९	२४	नित्यात्वादि	नित्यत्वादि
४५	१२	म्रातृका	मातृका
४७	१७	क्षीणकादि	क्षणिकादि
५३	७	५	४
५६	६	देव-चक्रं	देव-चक्रं
५७	५	विकारोंके	विकारोंको

५६	६	विषम	विषय
"	१०	चरस्त्वं	चरंस्त्व-
६०	१४	८८	८५
६३	१३	नृणां	नृणां
६५	१८	बेचारे	बेचारे तपस्वी
६८	१३	स्त्वयि-	स्त्वयि
७६	११	जलद्-जल	जलज-दल
८२	७	योग्यसे	योगसे
"	८	मण्डपेन	मण्डपेन यं
"	६	यं	×
"	१६	चित्य	चिन्त्य
८४	६	सभाऽसितया	सभाऽऽसितया
"	१५	स्तुवन्ति	×
"	१६	चैनं	स्तुवन्ति चैनं
८५	६	सद्वितय	द्वितय

(२) निम्न पद-वाक्य ब्लैक टाइपमें छपने चाहियें थे, जब कि सादा सफेद टाइपमें छप गये हैं। अतः इनके नीचे ब्लैक टाइपकी सूचक रेखा (लाइन) निम्न प्रकारसे लगा लेनी चाहिये—

१७	२२	जो एकन्त तत्त्व है
२२	१	हे प्रभो ! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान
४२	६-७	क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्वेषांश—बिल्कुल निकल गया है
४३	१६	बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल आभ्यन्तर कारण भी
"	२०-२१	गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'स्वयम्भू स्तोत्र' है। 'स्वयम्भू'-शब्दसे यह प्रारम्भ होता है, जिसका तृतीयान्तपद 'स्वयम्भुवा' आदिमें प्रयुक्त हुआ है। प्रारम्भिक शब्दानुसार स्तोत्रोंका नाम रखनेकी परिपाटी बहुत कुछ रूढ है। देवागम. सिद्धिप्रिय, भक्तामर. कल्याणमन्दिर और एकीभाव जैसे स्तोत्र-नाम इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—ये सब अपने अपने नामके शब्दोंसे ही प्रारम्भ होते हैं। इस तरह प्रारंभिक शब्दकी दृष्टिसे 'स्वयम्भूस्तोत्र' यह नाम जहाँ सुघटित है वहाँ स्तुति-पात्रकी दृष्टिसे भी वह सुघटित है; क्योंकि इसमें स्वयम्भुवोंकी—स्वयम्भू-पदको प्राप्त चतुर्विंशति जैनतीर्थङ्करोंकी—स्तुति की गई है। दूसरोंके उपदेश-विना ही जो स्वयं मोक्षमार्गको जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप आत्म-विकासको प्राप्त होता है उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं[1]। वृषभादिवीर-पर्यन्त चौवीस जैनतीर्थङ्कर ऐसे ही अनन्तचतुष्टयादिरूप आत्म-विकासको प्राप्त हुए हैं, स्वयम्भू-पदके स्वामी हैं और इसलिये

१ "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्य अनुष्ठाय वाऽनन्त-चतुष्टयतया भवतीति स्वयम्भूः।" —प्रभाचन्द्राचार्यः

उन स्तुतियोंका यह स्तोत्र 'स्वयम्भूस्तोत्र' इस सार्थक संज्ञाको भी प्राप्त है। इसी दृष्टिसे चतुर्विंशति-जिनकी स्तुतिरूप एक दूसरा स्तोत्र भी जो 'स्वयम्भू' शब्दसे प्रारम्भ न होकर 'येन स्वयं बोध-मयेन' जैसे शब्दोंसे प्रारंभ होता है 'स्वयम्भूस्तोत्र' कहलाता है।

ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'समन्तभद्र-स्तोत्र' भी पाया जाता है। अकेले जैन-सिद्धान्त-भवन आरामें ऐसी कई प्रतियाँ हैं, दूसरे भी शास्त्रभंडारोंमें ऐसी प्रतियाँ पाई जाती हैं। जिस समय सूचियों परसे 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम मेरे सामने आया तो मुझे उसी वक्त यह खयाल उत्पन्न हुआ कि यह शायद समन्तभद्रकी स्तुतिमें लिखा गया कोई ग्रन्थ है और इसलिये उसे देखनेकी इच्छा तीव्र हो उठी। मँगानेके लिये लिखा पढी करने पर मालूम हुआ कि यह समन्तभद्रका स्वयम्भू-स्तोत्र ही है—दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं, और इसलिये 'समन्तभद्र-स्तोत्र' का समन्तभद्र-कृत स्तोत्र माननेके लिये बाध्य होना पड़ा। ऐसा माननेमें स्तोत्रका कोई मूल विशेषण नहीं रहता। परन्तु समन्तभद्रकृत स्तोत्र तो और भी हैं उनमेंसे किसीको 'समन्त-भद्रस्तोत्र' क्यों नहीं लिखा और इसीको क्यों लिखा ? इसमें लेखकोंकी गलती है या अन्य कुछ, यह बात विचारणीय है। इस सम्बन्धमें यहाँ एक बात प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थ प्रायः दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसे देवागमका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा', स्तुतिविद्याका दूसरा नाम 'जिनशतक' और समीचीनधर्मशास्त्रका दूसरा नाम 'रत्नकरण्ड' है। इनमेंसे पहला पहला नाम ग्रन्थके प्रारम्भमें और दूसरा दूसरा नाम ग्रन्थके अन्तिम भागमें सूचित किया गया है। युक्त्य-नुशासन ग्रन्थके भी दो नाम हैं—दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, जिसकी सूचना आदि और अन्तके दोनों पद्योंमें की गई है। ऐसी

स्थितिमें बहुत संभव है कि स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तिम पद्यमें जो 'समन्तभद्रं' पद प्रयुक्त हुआ है उसके द्वारा स्वयम्भूस्तोत्रका दूसरा नाम 'समन्तभद्रस्तोत्र' सूचित किया गया हो। 'समन्तभद्रं' पद वहाँ वीरजिनेन्द्रके मत-शासनके विशेषणरूपमें स्थित है और उसका अर्थ है 'सब ओरसे भद्ररूप—यथार्थता, निर्बाधता और परहित-प्रतिपादनतादिगुणोंकी शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी'। यह स्तोत्र वीरके शासनका प्रतिनिधित्व-करता है—उसके स्वरूपका निदर्शक है—और सब ओरसे भद्र-रूप है अतः इसका 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम भी सार्थक जान पड़ता है, जो 'समन्तात भद्रं' इस पदच्छेदकी दृष्टिको लिये हुए है और उसमें श्लेषालङ्कारसे ग्रन्थकारका नाम भी उसी तरह समाविष्ट हो जाता है जिस तरह कि वह उक्त 'समन्तभद्रं' पद-में संनिहित है। और इसलिये इस द्वितीय नामोल्लेखनमें लेखकों-की कोई कर्तृत या गलती प्रतीत नहीं होती। यह नाम भी प्रायः पहलेसे ही इस ग्रन्थको दिया हुआ जान पड़ता है।

ग्रन्थका सामान्य परिचय और महत्व

स्वामी समन्तभद्रकी यह 'स्वयम्भूस्तोत्र' कृति समन्तभद्र-भारतीका एक प्रमुख अंग है और बड़ी ही हृदय-हारिणी एवं अपूर्वरचना है। कहनेके लिये यह एक स्तोत्रग्रन्थ है—स्तोत्रकी पद्धतिको लिये हुए है और इसमें वृषभादि चौबीस जिनदेवोंकी स्तुति की गई है; परन्तु यह कोरा स्तोत्र नहीं, इसमें स्तुतिके बहाने जैनागमका सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। इसीसे टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने इसे 'निःशेष-जिनोक्त-धर्म-विषयः' ऐसा विशेषण दिया है और 'स्तवोऽयमसमः' पदोंके द्वारा इसे अपना सानी (जोडा) न रखनेवाला अद्वितीय स्तवन प्रकट किया है। साथ ही इसके पदोंको सूक्तार्थ', 'अमल', 'स्वल्प'

समन्तभद्रभारतीके स्तोता कवि नागराजने सारी ही समन्तभद्र-वाणीके लिए 'वर्द्धमानदेव-बोध-बुद्ध-चिद्विलासिनी' और 'इन्द्र-भूति-भाषित-प्रमेयजाल-गोचरा' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि समन्तभद्रकी वाणी श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिए हुए है और उसका विषय वह सारा पदार्थसमूह है जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधर-के द्वारा प्रभाषित हुआ है—द्वादशांगश्रुतके रूपमें गूंथा गया है। अस्तु।

इस ग्रन्थमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगकी जो निर्मल गंगा अथवा त्रिवेणी बहाई है उसमें अवगाहन-स्नान किए ही बनता है और उस अवगाहनसे जो शान्ति-सुख मिलता अथवा ज्ञानानन्दका लाभ होता है उसका कुछ पार नहीं—वह प्रायः अनिर्वचनीय है। इन तीनों योगोंका अलग अलग विशेष परिचय आगे कराया जायगा।

इस स्तोत्रमें २४ स्तवन हैं और वे भरतक्षेत्र-सम्बन्धी वर्त-मान अवसर्पिणीकालमें अवतीर्ण हुए २४ जैन तीर्थङ्करोंकी अलग अलग स्तुतिको लिये हुए हैं। स्तुति-पद्योंकी संख्या सब स्तवनोंमें समान नहीं है। १८वें स्तवनकी पद्य-संख्या २०, २२वें की १० और २४वेंकी आठ है, जब कि शेष २१ स्तवनोंमेंसे प्रत्येक की पद्यसंख्या पांच पांचके रूपमें समान है। और इस तरह ग्रन्थ-के पद्योंकी कुल संख्या १४३ है। ये सब पद्य अथवा स्तवन एक ही छन्दमें नहीं किन्तु भिन्न भिन्न रूपसे तेरह प्रकारके छन्दों-में निर्मित हुए हैं, जिनके नाम हैं—वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र अनुष्टुप्, सुभद्रा-मालती-मिश्र-यमक, वानवासिका, वैतालीय, शिखरिणी, उद्गता, आर्यागीति (स्कन्धक)। कहीं कहीं एक स्तवनमें एकसे अधिक

छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। किस स्तवनका कौनसा पद्य किस छन्दमें रचा गया है और उस छन्दका क्या लक्षण है, इसकी सूचना 'स्तवन-छन्द-सूची' नामके एक परिशिष्टमें कर दी गई है, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके छन्द-विषयका ठीक परिज्ञान हो सके।

स्तवनोंमें स्तुतिगोचर-तीर्थङ्करोंके जो नाम दिये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१ वृषभ, २ अजित, ३ शम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्तजित्, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्टनेमि, २३ पार्श्व, २४ वीर।

[इनमेंसे वृषभको इक्ष्वाकु-कुलका आदिपुरुष, अरिष्टनेमि-को हरिवंशकेतु और पार्श्वको उग्रकुलाम्बरचन्द्र बतलाया है। शेष तीर्थङ्करोंके कुलका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।]

उक्त सब नाम अन्वर्थ-संज्ञक हैं—नामानुकूल अर्थविशेषको लिये हुए हैं। इनमेंसे जिनकी अन्वर्थसंज्ञकता अथवा सार्थकताको स्तोत्रमें किसी-न-किसी तरह प्रकट किया गया है वे क्रमशः नं० २, ४, ५, ६, ८, १०, ११, १४, १५, १६, १७, २० पर स्थित हैं। शेषमेंसे कितने ही नामोंकी अन्वर्थताको अनुवादमें व्यक्त किया गया है।

स्तुत तीर्थङ्करोंका परिचय

इन तीर्थङ्करोंके स्तवनोंमें गुणकीर्तनादिके साथ कुछ ऐसी बातों अथवा घटनाओंका भी उल्लेख मिलता है जो इतिहास तथा पुराणसे सम्बन्ध रखती हैं और स्वामी समन्तभद्रकी लेखनीसे उल्लेखित होनेके कारण जिनका अपना विशेष महत्व है और

और 'प्रसन्न' विशेषण देकर यह बतलाया है कि 'वे सूक्तरूपमें ठीक अर्थका प्रतिपादन करने वाले हैं, निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं और प्रसादगुण-विशिष्ट हैं'[1]। सचमुच इस स्तोत्रका एक एक पद प्रायः बीजपद-जैसा सूत्रवाक्य है, और इसलिये इसे 'जैनमार्ग-प्रदीप' ही नहीं किन्तु एक प्रकारसे 'जैनागम' कहना चाहिये। आगम (श्रुति) रूपसे इसके वाक्योंका उल्लेख मिलता भी है[2]। इतना ही नहीं, स्वयं ग्रन्थकारमहोदयने 'त्वयि वरदाऽऽगमदृष्टि-रूपतः गुणकृशमपि किञ्चनोदितं' (१०५) इस वाक्यके द्वारा ग्रन्थके कथनको आगमदृष्टिके अनुरूप बतलाया है। इसके सिवाय, अपने दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनमें 'दृष्टाऽऽगमाभ्याम-विरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' इस वाक्यके द्वारा युक्त्य-नुशासन (युक्तिवचन) का लक्षण व्यक्त करते हुए यह बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित-विषय-स्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्येकलक्षण

---

१ "सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः।"

२ जैसा कि कवि वाग्भटके काव्यानुशासनमें और जटासिंहनन्दी आचार्यके वरांगचरितमें पाये जानेवाले निम्न उल्लेखोंसे प्रकट है—

(क) आगम आप्तवचनं यथा—

'प्रजापतिर्यः प्रति(थ)मं जिजीविषूः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विवदे विदांवरः॥" [स्व० २]
—काव्यानुशासन

(ख) अनेकान्तोऽपि चैकान्तः स्यादित्येवं वदेत्परः।
"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त" [स्व० १०३]इति जैनी श्रुतिः स्मृता॥
—वरांगचरित

इस पद्यमें स्वयम्भूस्तोत्रके "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" इस वाक्य-को उद्धृत करते हुए उसे 'जैनी श्रुतिः' अर्थात् जैनागमका वाक्य बतलाया है।

साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे 'युक्त्य-नुशासन' कहते हैं और वही (हे वीरभगवन् !) आपको अभि-मत है '। इससे साफ जाना जाता है कि स्वयम्भूस्तोत्रमें जो कुछ युक्तिवाद है और उसके द्वारा अर्थका जो प्ररूपण किया गया है वह सब प्रत्यक्षाऽविरोधके साथ साथ आगमके भी अविरोधको लिए हुए है अर्थात् जैनागमके अनुकूल है। जैनागमके अनुकूल होनेसे आगमकी प्रतिष्ठाको प्राप्त है। और इस तरह यह ग्रन्थ आगमके—आप्तवचनके—तुल्य मान्यताकी कोटिमें स्थित है। वस्तुतः समन्तभद्र महान्के वचनोंका ऐसा ही महत्व है। इसीसे उनके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे कुछ ग्रन्थोंका नामो-उल्लेख साथमें करते हुए विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके आचार्य जिनसेनने, अपने हरिवंशपुराणमें, समन्तभद्रके वचनको श्रीवीर-भगवान्के वचन (आगम) के समान प्रकाशमान् एवं प्रभावादिक-से युक्त बतलाया है[1]। और ७ वीं शताब्दीके अकलंकदेव-जैसे महान् विद्वान् आचार्यने, देवागमका भाष्य लिखते समय, यह स्पष्ट घोषित किया है कि समन्तभद्रके वचनोंसे उस स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थका प्रभाव कलिकालमें भी भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिए सर्वत्र व्याप्त हुआ है, जो सर्व पदार्थों और तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है[2]। इसके सिवाय,

---

१ जीवसिद्धि-विधायीह कृत-युक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥—हरिवंशपुराण

२ तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥
—अष्टशती

समन्तभद्रभारतीके स्तोता कवि नागराजने सारी ही समन्तभद्र-वाणीके लिए 'वर्द्धमानदेव-बोध-बुद्ध-चिद्विलासिनी' और 'इन्द्र-भूति-भाषित-प्रमेयजाल-गोचरा' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि समन्तभद्रकी वाणी श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिए हुए है और उसका विषय वह सारा पदार्थसमूह है जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधर-के द्वारा प्रभाषित हुआ है—द्वादशांगश्रुतके रूपमें गूंथा गया है। अस्तु।

इस ग्रन्थमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगकी जो निर्मल गंगा अथवा त्रिवेणी बहाई है उसमें अवगाहन-स्नान किए ही बनता है और उस अवगाहनसे जो शान्ति-सुख मिलता अथवा ज्ञानानन्दका लाभ होता है उसका कुछ पार नहीं—वह प्रायः अनिर्वचनीय है। इन तीनों योगोंका अलग अलग विशेष परिचय आगे कराया जायगा।

इस स्तोत्रमें २४ स्तवन हैं और वे भरतक्षेत्र-सम्बन्धी वर्त-मान अवसर्पिणीकालमें अवतीर्ण हुए २४ जैन तीर्थङ्करोंकी अलग अलग स्तुतिको लिये हुए हैं। स्तुति-पद्योंकी संख्या सब स्तवनोंमें समान नहीं है। १८वें स्तवनकी पद्य-संख्या २०, २२वें की १० और २४वेंकी आठ है, जब कि शेष २१ स्तवनोंमेंसे प्रत्येक की पद्यसंख्या पांच पांचके रूपमें समान है। और इस तरह ग्रन्थ-के पद्योंकी कुल संख्या १४३ है। ये सब पद्य अथवा स्तवन एक ही छन्दमें नहीं किन्तु भिन्न भिन्न रूपसे तेरह प्रकारके छन्दों-में निर्मित हुए हैं, जिनके नाम हैं—वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र अनुष्टुप्, सुभद्रा-मालती-मिश्र-यमक, वानवासिका, वैतालीय, शिखरणी, उद्गता, आर्यागीति (स्कन्धक)। कहीं कहीं एक स्तवनमें एकसे अधिक

छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। किस स्तवनका कौनसा पद्य किस छन्दमें रचा गया है और उस छन्दका क्या लक्षण है, इसकी सूचना 'स्तवन-छन्द-सूची' नामके एक परिशिष्टमें कर दी गई है, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके छन्द-विषयका ठीक परिज्ञान हो सके।

स्तवनोंमें स्तुतिगोचर-तीर्थङ्करोंके जो नाम दिये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१ वृषभ, २ अजित, ३ शम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्तजित्, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्टनेमि, २३ पार्श्व, २४ वीर।

[इनमेंसे वृषभको इक्ष्वाकु-कुलका आदिपुरुष, अरिष्टनेमि-को हरिवंशकेतु और पार्श्वको उग्रकुलाम्बरचन्द्र बतलाया है। शेष तीर्थङ्करोंके कुलका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।]

उक्त सब नाम अन्वर्थ-संज्ञक हैं—नामानुकूल अर्थविशेषको लिये हुए हैं। इनमेंसे जिनकी अन्वर्थसंज्ञकता अथवा सार्थकताको स्तोत्रमें किसी-न-किसी तरह प्रकट किया गया है वे क्रमशः नं० २, ४, ५, ६, ८, १०, ११, १४, १५, १६, १७, २० पर स्थित हैं। शेषमेंसे कितने ही नामोंकी अन्वर्थताको अनुवादमें व्यक्त किया गया है।

स्तुत तीर्थङ्करोंका परिचय

इन तीर्थङ्करोंके स्तवनोंमें गुणकीर्तनादिके साथ कुछ ऐसी बातों अथवा घटनाओंका भी उल्लेख मिलता है जो इतिहास तथा पुराणसे सम्बन्ध रखती हैं और स्वामी समन्तभद्रकी लेखनीसे उल्लेखित होनेके कारण जिनका अपना विशेष महत्व है और

इसलिए उनकी प्रधानताको लिये हुए यहां इन स्तवनोंमेंसे स्तुत तीर्थङ्करोंका परिचय क्रमसे दिया जाता है :—

(१) वृषभजिन नाभिनन्दन (नाभिरायके पुत्र) थे, इक्ष्वाकुकुलके आदिपुरुष थे और प्रथम प्रजापति थे। उन्होंने सबसे पहले प्रजाजनोंको कृष्यादि-कर्मोंमें सुशिक्षित किया था (उनसे पहले यहां भोगभूमिकी प्रवृत्ति होनेसे लोग खेती-व्यापारादि करना अथवा असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन जीवनोपायरूप षट् कर्मोंको नहीं जानते थे), मुमुक्षु होकर और ममता छोड़कर वधू तथा वसुधाका त्याग करते हुए दीक्षा धारण की थी, अपने दोषोंके मूलकारण (घातिकर्मचतुष्क) को अपने ही समाधितेज-द्वारा भस्म किया था (फलतः विश्वचक्षुता एवं सर्वज्ञताको प्राप्त किया था) और जगतको तत्त्वका उपदेश दिया था। वे सत्पुरुषोंसे पूजित होकर अन्तको ब्रह्मपदरूप अमृतके स्वामी बने थे और निरंजन पदको प्राप्त हुए थे।

(२) अजितजिन देवलोकसे अवतरित हुए थे, अवतारके समयसे उनका बंधुवर्ग पृथ्वीपर अजेयशक्ति बना था और उस बन्धुवर्गने उनका नाम 'अजित' रक्खा था। आज भी (लाखों वर्ष बीत जानेपर) उनका नाम स्वसिद्धिकी कामना रखनेवालोंके द्वारा मंगलके लिये लिया जाता है। वे महामुनि बनकर तथा घनोपदेहसे (घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप दृढ उपलेपसे) मुक्त होकर भव्यजीवोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलंकों (अज्ञानादिदोषों तथा उनके कारणों) की शांतिके लिये अपनी समर्थ-वचनादि-शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार उदयको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थशक्ति-सम्पत्तिके साथ

प्रकट होता है। और उन्होंने उस महान् एवं ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया था जिसे प्राप्त होकर लौकिक जन दुःखपर विजय प्राप्त करते हैं।

(३) शम्भव-जिन इस लोकमें तृष्णा रोगोंसे संतप्त जनसमूह-के लिये एक आकस्मिक वैद्यके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने दोष-दूषित एवं प्रपीड़ित जगतको अपने उपदेशों-द्वारा निरंजना शांतिकी प्राप्ति कराई थी। आपके उपदेशका कुछ नमूना दो एक पद्योंमें दिया है और फिर लिखा है कि 'उन पुण्यकीर्तिकी स्तुति करनेमें शक्र (इन्द्र) भी असमर्थ रहा है'।

(४) अभिनन्दन-जिनने (लौकिक वधूका त्याग कर) उस दया-वधूको अपने आश्रयमें लिया था जिसकी सखी क्षमा थी और समाधिकी सिद्धिके लिए बाह्याऽभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थताको धारण किया था। साथ ही, मिथ्याभिनि-वेशके वशसे नष्ट होते हुए जगतको हितका उपदेश देकर तत्त्वका ग्रहण कराया था। हितका जो उपदेश दिया गया था उसका कुछ नमूना ३-४ पद्योंमें व्यक्त किया गया है।

(५) सुमति-जिनने जिस सुयुक्ति-नीत तत्त्वका प्रणयन किया है उसीका सुन्दर सार इस स्तवनमें दिया गया है।

(६) पद्मप्रभ--जिन पद्मपत्रके समान रक्तवर्णाभ शरीरके धारक थे। उनके शरीरकी किरणोंके प्रसारने नरों और अमरोंसे पूर्ण सभाको व्याप्त किया था—सारी समवसरणसभामें उनके शरीरकी आभा फैली हुई थी। प्रजाजनोंकी विभूतिके लिये—उनमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—उन्होंने भूतलपर विहार किया था और विहारके समय (इन्द्रादिरचित) सहस्रदल-कमलोंके मध्यभागपर चलते हुए अपने चरण-कमलों-द्वारा नभ-स्तलको पल्लवमय बना दिया था। उनकी स्तुतिमें इन्द्र असमर्थ रहा है।

(७) सुपार्श्व-जिन सर्वतत्त्वके प्रमाता (ज्ञाता) और माता की तरह लोकहितके अनुशास्ता थे। उन्होंने हितकी जो बातें कही हैं उन्हींका सार इस स्तवनमें दिया गया है।

(८) चन्द्रप्रभ-जिन चन्द्रकिरण-सम-गौरवर्ण थे, द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान थे। उनके शरीरके दिव्य प्रभा-मण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे मानस अन्धकार दूर हुआ था। उनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर अपने पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखने वाले प्रवादि-जन निर्मद हो जाते थे। और वे लोकमें परमेष्ठिके पदको प्राप्त हुए हैं।

(९) सुविधि-जिन जगदीश्वरों (इन्द्रचक्रवर्त्यादिकों) के द्वारा अभिवन्द्य थे। उन्होंने जिस अनेकान्तशासनका प्रणयन किया है उसका सार पांचों पद्योंमें दिया है।

(१०) शीतल-जिनने अपने सुखाभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुए मनको कैसे मूर्छा रहित किया और कैसे वे दिन-रात आत्मविशुद्धिके मार्गमें जागृत रहते थे, इन बातोंको बतलानेके बाद उनके तपस्याके उद्देश्य और व्यक्तित्वकी दूसरे तपस्वियों आदिसे तुलना करते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे बुधजनश्रेष्ठ आपकी उपासना करते हैं जो अपने आत्मकल्याणकी भावनामें तत्पर हैं।

(११) श्रेयो जिनने प्रजाजनोंको श्रेयोमार्गमें अनुशासित किया था। उनके अनेकान्त-शासनकी कुछ बातोंका उल्लेख करनेके बाद लिखा है कि 'वे कैवल्य-विभूतिके सम्राट् हुए हैं'।

(१२) वासुपूज्य-जिन अभ्युदय क्रियाओंके समय पूजाको प्राप्त हुए थे, त्रिदशेन्द्र-पूज्य थे और किसीकी पूजा या निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। उनके शासनकी कुछ बातोंका

उल्लेख करके उनके बुधजन-अभिवन्द्य होनेकी सार्थकताका द्योतन किया गया है।

(१३) विमल-जिनका शासन किस प्रकारसे नयोंकी विशेषताको लिये हुए था उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दित थे'।

(१४) अनन्तजित्-जिनने अपने अनन्तदोषाशय-विग्रहरूप 'मोह' को, कषाय नामके पीडनशील-शत्रुओंको, विशोषक कामदेव-के दुरभिमानरूप आतंकको कैसे जीता और अपनी तृष्णानदी-को कैसे सुखाया, इत्यादि बातोंका इस स्तवनमें उल्लेख है।

(१५) धर्म-जिन अनवद्य-धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हुए सत्पुरुषोंके द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गए हैं। उन्होंने तपरूप अग्नियोंसे अपने कर्मवनको दहन करके शाश्वत सुख प्राप्त किया है और इसलिये वे 'शङ्कर' हैं। वे देवों तथा मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि बुध-जनोंसे परिचारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि आकाशमें तारकाओं-से परिवृत निर्मल चन्द्रमा। प्रातिहार्यों और विभवोंसे विभूषित होते हुए भी वे उन्हींसे नहीं, किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं। उन्होंने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया, परन्तु शासन-फलकी एषणासे वे कभी आतुर नहीं हुए। उनके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियां इच्छाके बिना होते हुए भी असमीक्ष्य नहीं होती थीं। वे मानुषी प्रकृतिका उल्लंघन कर गये थे, देवताओंके भी देवता थे और इसीसे 'परमदेवता'के पदको प्राप्त थे।

(१६) शान्ति-जिन शत्रुओंसे प्रजाकी रक्षा करके अप्रतिम प्रतापके धारी राजा हुए थे और भयंकर चक्रसे सर्वनरेन्द्र-समूह-को जीतकर चक्रवर्ती राजा बने थे। उन्होंने समाधिचक्रसे दुर्जय

मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंचको—जीता था और उसे जीतकर वे महान् उदयको प्राप्त हुए थे, आर्हन्त्य-लक्ष्मीसे युक्त होकर देवों तथा असुरोंकी महती (समवरण) सभामें सुशोभित हुए थे। उनके चक्रवर्ती राजा होनेपर राज-चक्र, मुनि होनेपर दया-दीधिति-धर्मचक्र, पूज्य (तीर्थ-प्रवर्तक) होने पर देवचक्र प्राञ्जलि हुआ—हाथ जोड़े खड़ा रहा अथवा स्वाधीन बना—और ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्तचक्र—कर्मोंका अवशिष्टसमूह—नाशको प्राप्त हुआ था।

(१७) कुन्थु-जिन कुन्थ्वादि सकल प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए थे। उन्होंने पहले चक्रवर्ती राजा होकर पश्चात् धर्मचक्रका प्रवर्तन किया था, जिसका लक्ष्य लौकिकजनोंके ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्ति और उन्हें आत्मविभूतिकी प्राप्ति कराना था। वे विषय-सौख्यसे पराङ्मुख कैसे हुए, परमदुश्चर बाह्यतपका आचरण उन्होंने किस लिये किया, कौनसे ध्यानोंको अपनाया और कौनसी सातिशय अग्निमें अपने (घातिया) कर्मोंकी चार प्रकृतियोंको भस्म करके वे शक्तिसम्पन्न हुए और सकल-वेद-विधिके प्रणेता बने, इन सब बातोंको इस स्तवनमें बतलाया गया है। साथ ही, यह भी बतलाया गया है कि लोकके जो पितामहादिक प्रसिद्ध हैं वे आपकी विद्या और विभूतिकी एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हुए हैं, और इसलिए आत्महित-की धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन (गणधरादिक) उन अद्वितीय स्तुत्यकी स्तुति करते हैं।

(१८) अर-जिन चक्रवर्ती थे, मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य उनके लिए जीर्ण तृणके समान हो गया और इसलिये उन्होंने निःसार समझकर उसे त्याग दिया। उनके रूप-सौन्दर्य-को देखकर द्विनेत्र इन्द्र तृप्त न हो सका और इसलिए (विक्रिया-

ऋद्धिसे) सहस्रनेत्र बनकर देखने लगा और बहुत ही विस्मयको प्राप्त हुआ। उन्होंने कषाय-भटोंकी सेनासे सम्पन्न पापी मोह-शत्रुको दृष्टि, संविद् और उपेक्षा रूप अस्त्रोंसे पराजित किया था और अपनी तृष्णानदीको विद्या नौकासे पार किया था। उनके सामने कामदेव लज्जित तथा हतप्रभ हुआ था और जगतको रुलानेवाले अन्तकको अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा था और इस तरह वह भी पराजित हुआ था। उनका रूप आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और विद्या, कषायेन्द्रिय-जय तथा दया की उत्कृष्टताको लिये हुए था। उनके शरीरके बृहत् प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यानतेजसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर हुआ था। समवरणसभामें व्याप्त होनेवाला उनका वचनामृत सर्वभाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए था तथा प्राणियोंको तृप्ति प्रदान करनेवाला था। उनकी दृष्टि अनेकान्तात्मक थी। उस सती दृष्टिके महत्वादिका ख्यापन तथा उनके स्याद्वादशासनादिका कुछ विशेष कथन सात कारिकाओंमें किया गया है।

(१९) मल्लि-जिनको जब सकल पदार्थोंका साक्षात् प्रत्यवबोध (केवलज्ञान) हुआ था तब देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगत्‌ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया था। उनकी शरीरा-कृति सुवर्ण-निर्मित-जैसी थी और स्फुरित आभासे परिमण्डल किये हुए थी। वाणी भी यथार्थ वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली और साधुजनोंको रमानेवाली थी। जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन (एकान्तवादमतानुयायी) पृथ्वीपर कहीं विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी (उनके विहारके समय) पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु-हासको लिये हुए रमणीय हुई थी। उन्हें सब ओर से (प्रचुरपरिमाणमें) शिष्य साधुओं-

का विभव (ऐश्वर्य) प्राप्त हुआ था और उनका तीर्थ (शासन) भी संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतारनेके लिए प्रधान मार्ग बना था ।

(२०) मुनिसुव्रत-जिन मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादिक ज्ञानियोंकी महती सभा (समवरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है। उनका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित था जिस प्रकार कि चन्द्रमाके परिमण्डलकी दीप्ति शोभती है। साथ ही, वह चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अति सुगंधित, रजरहित, शिवस्वरूप (स्व-पर कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिये हुए था। उनका यह वचन कि 'चर और अचर जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणको लिये हुए है'—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश)स्वरूप है—सर्वज्ञताका द्योतक है। वे अनुपम योगबलसे पापमलरूप आठों कलंकोंको (ज्ञानावरणादि कर्मोंको) भस्मीभूत करके संसारमें न पाये जानेवाले सौख्यको—परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए थे।

(२१) नमि-जिनमें विभवकिरणोंके साथ केवलज्ञान-ज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्तवादी-जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए थे जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनूं) होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक तत्त्व का गंभीर रूप एक ही कारिका विधेयं वार्यं इत्यादिमें इतने अच्छे ढंगसे सूत्ररूपमें दिया है कि उसपर हजारों-लाखों श्लोकों की व्याख्या लिखी जा सकती है। उन्होंने परम करुणाभावसे सम्पन्न होकर अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये

बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर उस आश्रम-विधिको ग्रहण किया था जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ नहीं है, क्योंकि जहां अणुमात्र भी आरम्भ होता है वहां अहिंसाका वास नहीं अथवा पूर्णतः वास नहीं बनता। जो साधु यथाजात-लिङ्गके विरोधी विकृत वेषों और उपाधियोंमें रत हैं, उन्होंने वस्तुतः बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है—और इसलिये ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती। उनका आभूपण वेष, तथा व्यवधान (वस्त्र-आवरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये हुए (नग्न दिगम्बर) शरीर काम, क्रोध और मोह पर विजय का सूचक था।

(२२) अरिष्टनेमि-जिनने परमयोगाग्निसे कल्मपेन्धनको—ज्ञाना-वरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया था और सकल पदार्थोंको जाना था। वे हरिवंशकेतु थे, विकसित कमलदलके समान दीर्घनेत्रके धारक थे, और निर्दोष विनय तथा दमतीर्थके नायक हुए हैं। उनके चरणयुगल त्रिदशेन्द्र-वन्दित थे। उनके चरणयुगलको दोनों लोकनायकों गरुड़ध्वज (नारायण) और हलधर (बलभद्र) ने, जो स्वजनभक्तिसे मुदितहृदय थे और धर्म तथा विनयके रसिक थे, बन्धुजनोंके साथ बार-बार प्रणाम किया है। गरुडध्वजका दीप्तिमण्डल द्युतिमद्रथांग (सुदर्शनचक्र) रूप रविबिम्बकी किरणोंसे जटिल था और शरीर नीले कमलदलों-की राशिके अथवा सजलमेघके समान श्यामवर्ण था। इन्द्र-द्वारा लिखे गये नेमिजिनके लक्षणों (चिन्हों) को वह लोकप्रसिद्ध ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) धारण करता है जो पृथ्वीका ककुद है, विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित-शिखरोंसे अलंकृत है, मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है, तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त-ऋषियोंके द्वारा सब ओरसे निरन्तर,

अतिसेवित है। उन्होंने इस अखिल विश्वको सदा करतलस्थित स्फटिकमणिके समान युगपत् जाना था और उनके इस जाननेमें बाह्यकरण-चक्षुरादिक और अन्तःकरण-मन ये अलग-अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते थे और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते थे।

(२३) पार्श्व-जिन महामना थे, वे वैरीके वशवर्ती--कमठशत्रुके इशारे पर नाचने वाले—उन भयङ्कर मेघोंसे उपद्रवित होनेपर भी अपने योगसे (शुक्लध्यानसे) चलायमान नहीं हुए थे, जो नीले-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुष तथा विद्युद्-गुणोंसे युक्त और भयङ्कर वज्र, वायु तथा वर्षाको चारों तरफ बखेरनेवाले थे। इस उपसर्गके समय धरण नागने उन्हें अपने बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे वेष्ठित किया था और वे अपने योगरूप खड्गकी तीक्ष्ण धारसे दुर्जय मोहशत्रुको जीतकर उस आर्हन्त्य-पदको प्राप्त हुए थे जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी सातिशय-पूजाका स्थान है। उन्हें विधूतकल्मष (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापमलसेरहित), शमोपदेशक (मोक्षमार्गके उपदेष्टा) और ईश्वर (सकल-लोकप्रभु) के रूपमें देख कर वे वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए थे जो अपने श्रमको--पंचाग्नि साधनादिरूप प्रयासको—विफल समझ गए थे और भगवान पार्श्व-जैसे विधूतकल्मष ईश्वर होनेकी इच्छा रखते थे। पार्श्वप्रभु समग्रबुद्धि थे, सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता थे, उग्रकुलरूप आकाशके चन्द्रमा थे और उन्होंने मिथ्यामार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोंको विनष्ट किया था।

(२४) वीर-जिन अपनी गुणसमुत्थ-निर्मलकीर्ति अथवा दिव्यवाणीसे पृथ्वी (समवसरणभूमि) पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभास्थित

उस प्रभासे शोभताहै जो सब ओरसे धवल है। उनका शासन-विभव कलिकाल में भी जयको प्राप्त है और उसकी वे निर्दोष साधु (गणधरादिकदेव) भी स्तुति करते हैं जिन्होंने अपने ज्ञानादि-तेजसे आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्धनायकोंको—निस्तेज किया है। उनका स्याद्वादरूप प्रवचन दृष्ट और इष्टके साथ विरोध न रखनेके कारण निर्दोष है, जब कि दूसरोंका—अस्याद्वादियोंका—प्रवचन उभय विरोधको लिये हुए होनेसे वैसा नहीं है। वे सुरा-सुरोंसे पूजित होते हुए भी ग्रन्थिक सत्वोंके—मिथ्यात्वादि परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामोंसे पूजित नहीं हैं। और अनावरणज्योति होकर उस धामको—मुक्तिस्थान अथवा सिद्धशिलाको—प्राप्त हुए हैं जो अनावरण-ज्योतियोंसे प्रकाशमान है। वे उस गुण-भूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादि गुणरूप आभूषण-समूहको—धारण किए हुए थे जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभास्थित भव्यजनोंको रुचिकर था और श्रीसे—अष्टप्रातिहार्यादिरूप-विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट था जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। साथही, उनके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्णचन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा था। उन्होंने निष्कपट यम और दम-का—महाव्रतादिके अनुष्ठान और कषायों तथा इन्द्रियोंके जयका—उपदेश दिया है। उनका उदार विहार उस महाशक्ति-सम्पन्न गजराजके समान हुआ है जो झरते हुए मदका दान देते हुए और मार्गमें बाधक गिरिभित्तियोंका विदारण करते हुए (फलतः जो बाधक नहीं उन्हें स्थिर रखते हुए) स्वाधीन चला जाता है। वीरजिनेन्द्रने अपने विहारके समय सबको अहिंसाका—अभयका—दान दिया है, शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशांतिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा की है और वैषम्य-स्थापक, हिंसाविधायक एवं सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी

वादों—मतोंका खण्डन किया है जो गिरिभित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे। उनका शासन नयोंके भङ्ग अथवा भक्तिरूप अलङ्कारोंसे अलंकृत है—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है—और इस तरह यथार्थ वस्तुतत्त्वके निरूपण और परहित-प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओरसे भद्ररूप, निर्बाधतादि-विशिष्ट शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी है; जब कि दूसरोंका—एकान्तवादियोंका—शासन मधुर वचनोंके विन्याससे मनोज्ञ होता हुआ भी बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है—सत्य-शासनके योग्य जो यथार्थवादिता, और परहित-प्रतिपादनादि-रूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है।

स्तवनोंके इस परिचय-समुच्चय-परसे यह साफ़ जाना जाता है कि सभी जैन तीर्थङ्कर स्वावलम्बी हुए हैं। उन्होंने अपने आत्मदोषों और उनके कारणोंको स्वयं समझा है और समझ कर अपने ही पुरुषार्थसे—अपने ही ज्ञानबल और योग बलसे—उन्हें दूर एवं निर्मूल कियाहै। अपने आत्मदोषोंको स्वयं दूर तथा निर्मूल करके और इस तरह अपना आत्म-विकास स्वयं सिद्ध करके वे मोह, माया, ममता और तृष्णादिसे रहित 'स्वयम्भू' बने हैं—पूर्ण दर्शन-ज्ञान एवं सुख-शक्तिको लिये हुए 'अर्हत्पदको' प्राप्त हुए हैं। और इस पदको प्राप्त करनेके बाद ही वे दूसरोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुए हैं। उपदेशके लिये परमकरुणा-भावसे प्रेरित होकर उन्होंने जगह-जगह विहार कियाहै और उस विहारके अवसर पर उनके उपदेशके लिए बड़ी बड़ी सभाएँ जुडी हैं, जिन्हें 'समवसरण' कहा जाता है। उन सबका उपदेश,

शासन अथवा प्रवचन अनेकान्त और अहिंसाके आधार पर प्रतिष्ठित था और इसलिये यथार्थ वस्तुतत्त्वके अनुकूल और सबके लिये हितरूप होता था। उन उपदेशोंसे विश्वमें तत्त्वज्ञान-की जो धारा प्रवाहित हुई है उसके ठीक सम्पर्कमें आनेवाले असंख्य प्राणियोंके अज्ञान तथा पापमल धुल गए हैं और उनकी भूल-भ्रांतियां मिट कर तथा असत्यवृत्तियां दूर हो कर उन्हें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति हुई है। उन प्रवचनोंसे ही उस-उस समय सत्तीर्थकी स्थापना हुई है और वे संसारसमुद्र अथवा दुःखसागरसे पार उतारनेके साधन बने हैं। उन्हींके कारण उनके उपदेष्टा तीर्थङ्कर कहलाते हैं और वे लोकमें सातिशय पूजाको प्राप्त हुए हैं तथा आज भी उन गुणों और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा पूजे जाते हैं जिन्हें उनका यथेष्ट परिचय प्राप्त है।

अर्हद्विशेषण-पद

स्वामी समन्तभद्रने अपने इस स्तोत्रमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनसे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नय-विवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करने पर सहजमें ही अवगत हो जाता है। अतः यहां पर उन विशेषणपदोंका स्तवनक्रमसे एकत्र संग्रह किया जाता है। जिनपदोंका मूलप्रयोग सम्बोधन तथा द्वितीयादि विभक्तियों और बहुवचनादिके रूपमें हुआ है उन्हें अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे यहां प्रथमाके एक वचनमें ही रक्खा गया है, साथमें स्थान-सूचक पद्याङ्क भी पद्य सम्बन्धी विशेषणोंके अन्तमें दे दिये गये हैं। और जो एक विशेषण अनेक स्तवनोंमें प्रयुक्त हुआ है उसे एक ही जगह—प्रथम प्रयोगके स्थानपर—ग्रहण किया गया है, अन्यत्र प्रयोगकी

सूचना उसके आगे ब्रेकटके भीतर पद्याङ्क देकर कर दी गई है :—

(१) स्वयम्भूः, भूतहितः, समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुः, तमो विधुन्वन् १; प्रबुद्धतत्त्वः, अद्भुतोदयः, विदांवरः २; मुमुक्षुः (८८), आत्मवान् (८२), प्रभुः (२०, २८, ६९), सहिष्णुः, अच्युतः ३; ब्रह्मपदामृतेश्वरः ४; विश्वचक्षुः, वृषभः, सतामर्चितः, समग्र विद्यात्मवपुः, निरञ्जनः, जिनः (३६, ४५, ५०, ५१, ५७, ८०, ८१, ११२, ११४, १३०, १३७, १४१), अजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ५ ।

(२) अजितशासनः, प्रणेता ७; महामुनिः (७०), मुक्तघनोपदेहः ८; पृथुज्येष्ठ-धर्मतीर्थ-प्रणेता ९; ब्रह्मनिष्ठः, सम-मित्र-शत्रुः, विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः, लब्धात्म-लक्ष्मीः, अजितः, अजितात्मा, भगवान् (१८, ३१, ४०, ६६, ८०, ११७, १२१) १० ।

(३) शम्भवः, आकस्मिकवैद्यः ११; स्याद्वादी, नाथः (२५, ५७, ७५, ६६, १२९), शास्ता १४; पुण्यकीर्तिः (८७), आर्यः (४८, ६८) १५ ।

(४) अभिनन्दनः, समाधितन्त्रः १६; सतां गतिः २० ।

(५) सुमतिः, मुनिः (४६, ६१, ७४, ७६) २१ ।

(६) पद्मप्रभः, पद्मालयालिङ्गित-चारुमूर्तिः, भव्यपयोरुहाणां पद्मबन्धुः २६; विमुक्तः २७; पातित-मार-दर्पः २६; गुणाम्बुधिः, अजः (५०, ८५), ऋषिः (६०, १२१) ३० ।

(७) सुपार्श्वः ३१; सर्व-तत्त्व-प्रमाता, हितानुशास्ता, गुणावलोकस्य जनस्य नेता ३५ ।

(८) चन्द्रप्रभः, चन्द्रमरीचि-गौरः, महतामभिवन्द्यः, ऋषीन्द्रः, जितस्वान्त-कषाय-बन्धः ३६; सर्वलोक-परमेष्ठी,

अद्भुत-कर्म-तेजाः, अनन्तधामाऽक्षर-विश्वचक्षुः, समन्त-दुःख-क्षय-शासनः ३९; विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः, व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः, पवित्रः ४० ।

(९) सुविधिः ४१, जगदीश्वराणामभिवन्द्यः, साधुः ४५ ।

(१०) अनघः (१११) ४६; नक्तंदिवमप्रमत्तवान् ४८; समधीः ४९; उत्तमज्योतिः, निर्वृतः, शीतलः ५० ।

(११) श्रेयान्, अजेय-वाक्यः ५१; कैवल्य-विभूति-सम्राट्, अर्हन्, स्तवार्हः ५५ ।

(१२) शिवास्वभ्युदय-क्रियासु पूज्यः, त्रिदशेन्द्र-पूज्यः, मुनीन्द्रः (८५) ५६; वीतरागः, विवान्त-वैरः ५७; पूज्यः ५८; बुधानामभिवन्द्यः ६० ।

(१३) विमलः ६१; आर्य-प्रणतः ६५ ।

(१४) तत्त्वरुचौ प्रसीदन्, अनन्तजिन ६६; अशेषवित् ६७; उदासीनतमः ६९ ।

(१५) अनघ-धर्मतीर्थ-प्रवर्तयिता,धर्मः, शङ्करः ७१; देव-मानव-निकाय-सत्तमैः परिवृतः,बुधैर्वृतः७२; प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतः, देहतोऽपि विरतः, शासन-फलैषणाऽनातुरः ७३; धीरः (९०, ९१, ९४) ७४; मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वरूपि देवता, परम-देवता, जिनवृषः ७५ ।

(१६) दयामूर्तिः ७६; महोदयः ७७; आत्मतन्त्रः ७८; स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः, शरणं गतानां शान्तेर्विधाता, शान्तिः, शरण्यः ८० ।

(१७) कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्व-दयैकतानः, कुन्थुजिनः, धर्म-चक्रवर्तयिता ८१; विषय-सौख्य-पराङ्मुखः ८२; रत्नत्रयाऽतिशय-

तेजसि जातवीर्यः, सकल-वेद-विधेर्विनेता ८४; अप्रतिमेयः, स्तुत्यः (११६) ८५।

(१८) भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागी, विद्या-दम-दयापरः, दोष-विनिग्रहः ९४; सर्वज्ञज्योतिषोद्भूत-महिमोदयः ९६; अनेकान्तात्मदृष्टिः ९८; निरुपम-युक्त-शासनः, प्रियहित-योग-गुणाऽनुशासनः, अर-जिनः, दम-तीर्थनायकः १०४; वरदः १०५।

(१९) महर्षिः १०६; जिन-शिशिरांशुः १०९; जिनसिंहः, कृत-करणीयः, मल्लिः, अशल्यः ११०।

(२०) अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिः, मुनिवृषभः, मुनिसुव्रतः १११; कृत-मद-निग्रह-विग्रहः ११२; शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहित-वपुः, सुरभितर-विरजवपुः, यतिः ११३; वदतांवरः ११४; अभव-सौख्य-वान् ११५।

(२१) सततमभिपूज्यः, नमि-जिनः ११६; धीमान्, ब्रह्म-प्रणिधिमनाः, विदुषां मोक्ष-पदवी ११७; सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुः ११८; परमकरुणः ११९; भूषा-वेष-व्यवधि-रहित-वपुः, शान्त-करणः, निर्मोहः, शान्तिनिलयः १२०।

(२२) परम-योग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः १२१; अनवद्य-विनय-दम-तीर्थनायकः, शीलजलधिः, विभवः, अरिष्टनेमिः, जिनकुञ्जरः, अजरः १२२; बुधनुतः १३०।

(२३) महामना १३१; ईश्वरः, विधूत-कल्मषः, शमोपदेशः १३४; सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः, समग्रधीः, पार्श्वजिनः, विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः १३५।

(२४) वीरः १३६; मुनीश्वरः १३८; सुराऽसुर-महितः, ग्रन्थिक-सत्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः, लोक-त्रय-परम-हितः, अनावरण-ज्योतिः, उज्ज्वलधामहितः १३९; गत-मद-मायः, मुमुक्षु-कामदः

१४१, शम-वादानवन्, अपगत-प्रमा-दानवान् १४२; देवः, समन्त-भद्र-मतः १४३।

इन विशेषण-पदोंको आठ समूहों अथवा विभागोंमें विभाजित किया जा सकता है; जैसे १ कर्मकलंक और दोषों पर विजयके सूचक, २ ज्ञानादि-गुणोत्कर्ष-व्यंजक, ३ परहित-प्रतिपादनादिरूप लोकहितषितामूलक, ४ पूज्यताऽभिव्यञ्जक, ५ शासनकी महत्ताके प्रदर्शक, ६ शारीरिक स्थिति और अभ्युदयके निदर्शक, ७ साधना-की प्रधानताके प्रकाशक, और ८ मिश्रित-गुणोंके वाचक।

ये सब विशेषणपद एक प्रकारसे अर्हन्तोंके नाम हैं जो उनके किसी किसी गुण अथवा गुणसमूहकी अपेक्षाको साथमें लिये हुए हैं। यद्यपि इन विशेषण-पदोंमें कितने ही विशेषण-पद—जैसे साधुः, मुनिः, यतिः आदिक—साधारण अथवा सामान्य जान पड़ते हैं; क्योंकि वे अर्हत्पदसे रहित दूसरोंके लिए भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु उन्हें यहां साधारण नहीं समझना चाहिये; क्योंकि असाधारण व्यक्तित्वको लिये हुए महान् पुरुषोंके लिए जब साधारण विशेषण प्रयुक्त होते हैं तब वे 'आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः' की उक्तिके अनुसार आश्रयके माहात्म्यसे असाधारण अर्थके द्योतक होते हैं—उनका अर्थ अपनी चरमसीमाको पहुँचा हुआ ही नहीं होता बल्कि दूसरे अर्थोंकी प्रभाको भी अपने साथमें लिये हुए होता है।

जैनतीर्थङ्कर अर्हद्गुणोंकी दृष्टिसे प्रायः समान होते हैं, इसलिए व्यक्तित्व-विशेषकी कुछ बातोंको छोड़कर अर्हत्पदकी दृष्टिसे एक तीर्थङ्करके जो गुण अथवा विशेषण हैं वे ही दूसरेके हैं—भले ही उनके साथमें उन विशेषणोंका प्रयोग न हुआ हो या प्रयोगको अवसर न मिला हो। और इस तरह अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीवीरजिनेन्द्रमें उन सभी गुणोंकी परिसमाप्ति एवं पूर्णता

समझनी चाहिये जिनका अन्य वृषभादि तीर्थङ्करोंके स्तवनोंमें उल्लेख हुआ अथवा प्रदर्शन किया गया है। और उनका शासन-तीर्थ उन सब गुणोंसे विशिष्ट है जो अन्य जैन तीर्थङ्करोंके शासन-में निर्दिष्ट हुए हैं। तीर्थङ्कर-नामोंके सार्थक, अन्वयार्थक अथवा गुणार्थक होनेसे एक तीर्थङ्करका जो नाम है वह दूसरोंका विशेषण अथवा गुणार्थक पद हो जाता है[1] और इसलिए उन्हें भी विशेषणपदोंमें संगृहीत किया गया है।

भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार. सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं-सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक स्वभावसे ही

---

[1] इसी दृष्टिको लेकर द्विसंधानादि चतुर्विंशतिसंधान-जैसे काव्य रचे गए हैं। चतुर्विंशतिसंधानको पं० जगन्नाथने एक ही पद्यमें रचा है, जिसमें २४ तीर्थङ्करोंके नाम आ गए हैं, और एक एक तीर्थङ्करकी अलग अलग स्तुतिके रूपमें उसकी २४ व्याख्याएं की गई हैं और २५वीं व्याख्या समुच्चय स्तुतिके रूपमें है (देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह पृ० ७८)। हालमें 'पंचवटी' नामका एक ऐसा ही ग्रन्थ मुझे जयपुरसे उपलब्ध हुआ है जिसके प्रथम स्तुतिपद्यमें २४ तीर्थङ्करोंके नाम आ गए हैं और संस्कृत व्याख्या-में उन नामोंके अर्थको वृषभजिनके सम्बन्धमें स्पष्ट करते हुए अजितादि शेष तीर्थङ्करोंके सम्बन्धमें भी घटित कर लेने की बात कही गई है। वह पद्य इस प्रकार है—

श्रीधर्मोवृषभोऽभिनन्दन अरः पद्मप्रभः शीतलः
शान्तिः संभव वासुपूज्य अजितश्चन्द्रप्रभः सुव्रतः।
श्रेयान् कुन्थुरनंतवीरविमलः श्रीपुष्पदन्तो नमिः
श्रीनेमिः सुमतिः सुपार्श्वजिनराट् पार्श्वो मल्लिः पातु वः॥१॥

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनंतवीर्यादि अनंतशक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियां आठ, उत्तर प्रकृतियां एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिए हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीवजगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जबतक किसी जीवकी यह विभाव-परिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है। जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेह-मुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं; अथवा अविकसित, अल्पविक-सित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाँटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणति को छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिए गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुण-ग्रहणका पात्र ही नहीं, बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिए और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक़शे क़दमपर—पदचिन्होंपर—चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओंपर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिए अपने आत्माका अनुभवन और मनन है; हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उन सिद्धात्माओंकी कुछ भी ग़रज़ नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिए की जाती है। इसीसे सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) के साधनोंमें 'भक्ति-योग' को

एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादिके रूपमें इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, 'शुभोपयोगि चरित्र' लिखा है और साथ ही कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदन-का अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है[1] और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी[2]

१. देखो, स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका नं० ११६

२. देखो, स्तुतिविद्याका पद्य नं० ११४

इसीको निर्दिष्ट किया है और इसी लिए स्तुति-वन्दनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टिपुरुषों (मुनियों-तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

स्वामी समन्तभद्र का यह स्वयम्भू ग्रन्थ 'स्तोत्र' होनेसे स्तुति-परक है और इस लिये भक्तियोगकी प्रधानताको लिये हुए है, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। सच पूछिये तो जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकास-की भूमिका ही तय्यार नहीं होती। बल्कि पहलेसे यदि कुछ विकास हुआ भी होता है तो वह भी 'किया कराया सब गया जब आया हुंकार' की लोकोक्तिके अनुसार जाता रहता अथवा दूषित हो जाता है। भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें सबसे पहले भक्तियोगको अपनाया गया है और इसीसे स्तोत्रग्रन्थोंके रचनेमें समन्तभद्र प्रायः प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं। आप्तपुरुषों अथवा विकासको प्राप्त शुद्धात्मा-ओंके प्रति आचार्य समन्तभद्र कितने विनम्र थे और उनके

गुणोंमें कितने अनुरागी थे यह उनके स्तुति-ग्रन्थोंसे भले प्रकार जाना जाता है। उन्होंने स्वयं स्तुतिविद्यामें अपने विकासका प्रधान श्रेय भक्तियोगको दिया है (पद्य ११४); भगवान जिनदेवके स्तवनको भव-वनको भस्म करने वाली अग्नि लिखा है; उनके स्मरणको क्लेश समुद्रसे पार करनेवाली नौका बतलाया है (प० ११५) और उनके भजनको लोहसे पारस-मणिके स्पर्श-सामन बतलाते हुए यह घोषित किया है कि उसके प्रभावसे मनुष्य विशदज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत हो जाता है (६०)।

अब देखना यह है कि प्रस्तुत स्वयम्भूग्रन्थमें भक्तियोगके अङ्गस्वरूप 'स्तुति' आदिके विषयमें क्या कुछ कहा गया है और उनका क्या उद्देश्य, लक्ष्य अथवा हेतु प्रकट किया है:—

लोकमें 'स्तुति' का जो रूप प्रचलित है उसे बतलाते हुए और वैसी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए, स्वामीजी लिखते हैं —

गुण-स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥
तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥८७॥

अर्थात्—विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लङ्घन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे जिन!) आपमें कैसे बन सकती है?—नहीं बन सकती। क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौर पर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी तो बात ही दूर है। फिर भी आप पुण्यकीर्ति

मुनीन्द्रका चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्ति-पूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है, इस लिए हम आपके गुणोंका कुछ—लेशमात्र—कथन (यहां) करते हैं।

इससे प्रकट है कि समन्तभद्रकी जिन-स्तुति यथार्थताका उल्लंघन करके गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेवाली लोकप्रसिद्ध स्तुति-जैसी नहीं है, उसका रूप जिनेन्द्रके अनन्त गुणोंमेंसे कुछ गुणोंका अपनी शक्तिके अनुसार आंशिक कीर्तन करना है[1] और उसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य है आत्माको पवित्र करना। आत्माका पवित्रीकरण पापोंके नाशसे—मोह, कषाय तथा राग-द्वेषादिकके अभावसे—होता है। जिनेन्द्रके पुण्य-गुणोंका स्मरण एवं कीर्तन आत्माकी पाप-परिणतिको छुड़ाकर उसे पवित्र करता है, इस बातको निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे ।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

इसी कारिकामें यह भी बतलाया गया है कि पूजा-स्तुतिसे जिनदेवका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे वीतराग हैं—रागका अंश भी उनके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिससे किसीकी

१ इसी आशयको 'युक्त्यनुशासन' की निम्न दो कारिकाओंमें भी व्यक्त किया गया है :—

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥
तथापि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूप-वाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

पूजा, भक्ति या स्तुतिपर वे प्रसन्न होते। वे तो सच्चिदानन्दमय होनेसे सदा ही प्रसन्नस्वरूप हैं, किसीकी पूजा आदिकसे उनमें नवीन प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और इसलिये उनकी पूजा भक्ति या स्तुतिका लक्ष्य उन्हें प्रसन्न करना तथा उनकी प्रसन्नता-द्वारा अपना कोई कार्य सिद्ध करना नहीं है और न वे पूजादिकसे प्रसन्न होकर या स्वेच्छासे किसीके पापोंको दूर करके उसे पवित्र करनेमें प्रवृत्त होते हैं, बल्कि उनके पुण्य-गुणोंके स्मरणादिसे पाप स्वयं दूर भागते हैं और फलतः पूजक या स्तुतिकर्ताके आत्मामें पवित्रताका संचार होता है। इसी बातको और अच्छे शब्दोंमें निम्नकारिका-द्वारा स्पष्ट किया गया है—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

इसमें बतलाया है कि—'स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी (Direct) उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु आत्म-साधनामें तत्पर साधुस्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभावपूर्वक स्तुति करनेवालेकी—स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक या पवित्रता-विधायक शुभभावोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत की गई अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन! ऐसा कौन विद्वान—परीक्षापूर्वकारी अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे? करे ही करे।

अनेक स्थानोंपर समन्तभद्रने जिनेन्द्रकी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए अपनेको अज्ञ (१५), बालक (३०) तथा अल्पधी (५६) के रूपमें उल्लिखित किया है; परन्तु एक स्थानपर तो उन्होंने अपनी भक्ति तथा विनम्रताकी पराकाष्ठा ही कर दी है, जब इतने महान् ज्ञानी होते हुए और इतनी प्रौढ़ स्तुति रचते हुए भी वे लिखते हैं—

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
प्रलाप - लेशोऽल्प- मतेर्महामुने !
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि
शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥७०॥

'(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं, वैसे हैं—आपके ये गुण हैं, वे गुण हैं—इस प्रकार स्तुतिरूपमें मुझ अल्पमतिका—यथावत गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह थोड़ासा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं।) अमृतसमुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याणकारक होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है।'

इससे जिनेन्द्र-गुणोंका स्पर्शमात्र थोड़ासा अधूरा कीर्तन भी कितना महत्व रखता है यह स्पष्ट जाना जाता है।

जब स्तुत्य पवित्रात्मा, पुण्य-गुणोंकी मूर्ति और पुण्यकीर्ति हो तब उसका नाम भी, जो प्रायः गुण-प्रत्यय होता है, पवित्र होता है और इसीलिये ऊपर उद्धृत ८७वीं कारिकामें जिनेन्द्रके नाम-कीर्तनको भी पवित्र करनेवाला लिखा है तथा नीचेकी

कारिकामें, अजित जिनकी स्तुति करते हुए, उनके नामको 'परम-पवित्र' बतलाया है और लिखा है कि आज भी अपनी सिद्धि चाहनेवाले लोग उनके परम पवित्र नामको मंगलके लिये—पाप-को गालने अथवा विघ्न-बाधाओंको टालनेके लिये—बड़े आदरके साथ लेते हैं—

अद्यापि यस्याऽजित-शासनस्य
सतां प्रणेतुः प्रतिमंगलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परम - पवित्रं
स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥७॥

जिन अर्हन्तोंका नाम-कीर्तन तक पापोंको दूर करके आत्मा-को पवित्र करता है उनके शरणमें पूर्ण-हृदयसे प्राप्त होनेका तो फिर कहना ही क्या है—वह तो पाप-तापको और भी अधिक शान्त करके आत्माको पूर्ण निर्दोष एवं सुख-शान्तिमय बनानेमें समर्थ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अनेक स्थानोंपर 'ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः' (१२०) जैसे वाक्योंके साथ अपनेको अर्हन्तोंकी शरणमें अर्पण किया है। यहाँ इस विषयका एक खास वाक्य उद्धृत किया जाता है, जो शरण-प्राप्तिमें कारणके भी स्पष्ट उल्लेखको लिये हुए है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥८०॥

इसमें बतलाया है कि 'वे भगवान् शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान,

मोह तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंकी—शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं—उनमें अपने आत्मप्रभावसे दोषोंकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत हैं। अतः (इस शरणागतिके फलस्वरूप) वे शान्ति-जिन मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी समाप्तिमें कारणीभूत होवें।'

यहां शान्तिजिनको शरणागतोंकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये. उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोपकी जरूरत नहीं है. वह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने इस ग्रन्थमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' (६६) बतलाया है। दोषोंकी शान्ति हो जानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। और इसलिए अर्हन्तदेवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्तिके विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। और इस तरह कर्तृत्व-विषयमें अनेकान्त चलता है—सर्वथा एकान्तपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहां प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा

भयोंकी शांतिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहि-मरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ तिजगबंधव ! तव जिणवर चरण-सरणेण ॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—'हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव ! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोंका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और बोधिका--सम्यग्दर्शनादिकका—लाभ होवे !' इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नता-पूर्वक जिनदेवके चरणोंका आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्त-भद्रकी प्रार्थनाका है। इसी भावको लिए हुए ग्रंथमें दूसरी प्राथ-नाएँ इस प्रकार हैं—

"मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ !" (२५)
"मम भवताद् दुरितासनोदितम्" (१०५)
"भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये" (११५)

परन्तु ये ही प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षातरूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती तो हैं वे अलं-कृतरूपको धारण किए हुए होती हैं। प्रार्थनाके इस अलंकृतरूपको लिए हुए जो वाक्य प्रस्तुत ग्रन्थमें पाये जाते हैं वे निम्न प्रकार हैं:—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)

२. जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममाऽऽर्य देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४. पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५. श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने, जिनश्री तथा शिव-सन्ततिको देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिए हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई हैं, इनमें असंगतता तथा असंभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहजसाध्य हैं—और इसलिए अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं। इनके मर्मको अनुवादमें स्पष्ट किया गया है। वास्तवमें परम वीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देवके समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अर्थात् यह प्रकट करना है कि वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा, कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादिको काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरोंसे प्रेरणादिकके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असम्भाव्यको संभाव्य बनाने-जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है। अस्तु, प्रार्थना-विषयक विशेष ऊहापोह स्तुति-विद्याकी प्रस्तावनामें 'वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?' इस शीर्षकके नीचे किया गया है और इसलिये उसे वहींसे जानना चाहिये।

इस तरह भक्तियोगमें, जिसके स्तुति, पूजा, बन्दना, आराधना, शरणागति, भजन-स्मरण और नामकीर्तनादिक अंग हैं, आत्मविकासमें सहायक हैं। और इसलिये जो विवेकीजन अथवा बुद्धिमान पुरुष आत्मविकासके इच्छुक तथा अपना हित-साधनमें सावधान हैं वे भक्तियोगका आश्रय लेते हैं। इसी बातको प्रदर्शित करने वाले ग्रंथके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

१. इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
ततो भवानेवगतिः सतां मतः (२०)।

२. ततः स्वनिश्रेयस-भावना-परै-
र्बुधप्रवेकैः जिन ! शीतलेड्यसे (५०)।

३. ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः (६५)।

४. तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः (८५)।

५. स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः (१२४)।

स्तुतिविद्यामें तो बुद्धि उसीको कहा है जो जिनेन्द्रका स्मरण करती है, मस्तक उसीको बतलाया है जो जिनेन्द्रके पदोंमें नत रहता है, सफलजन्म उसीको घोषित किया है जिसमें संसार-परिभ्रमणको नष्ट करने वाले जिनचरणोंका आश्रय लिया जाता है, वाणी उसीको माना है जो जिनेन्द्रका स्तवन (गुणकीर्तन) करती है, पवित्र उसीको स्वीकार किया है जो जिनेन्द्रके मत में

रत है और पंडितजन उन्हींको अंगीकार किया है जो जिनेन्द्रके चरणोंमें सदा नम्रीभूत रहते हैं[1] । (११३)

इन्हीं सब बातोंको लेकर स्वामी समन्तभद्रने अपनेको अर्हज्जिनेन्द्रकी भक्तिके लिये अर्पण कर दिया था। उनकी इस भक्तिके ज्वलन्त रूपका दर्शन स्तुतिविद्याके निम्न पद्यमें होता है, जिसमें वे वीरजिनेन्द्रको लक्ष्य करके लिखते हैं—'हे भगवन् आपके मतमें अथवा आपके विषयमें मेरी सुश्रद्धा है-अन्ध-श्रद्धा नहीं; मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है—सदा आपका ही स्मरण किया करती है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं मेरे कान आपकी ही गुण-कथाको सुनने में लीन रहते हैं, मेरी आंखें आपके ही सुन्दर रूपको देखा करती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी सुन्दर स्तुतियों के रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है। इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह आराधन किया करता हूँ--इसीलिये हे तेजःपते! (केवलज्ञान स्वामिन्!) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान) हूँ :—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।

---

1. प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ।। ११३।।

सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

यहाँ सबसे पहले 'सुश्रद्धा' की जो बात कही गई है, वह बड़े महत्वकी है और अगली सब बातों अथवा प्रवृत्तियोंकी जान-प्राण जान पड़ती है। इससे जहाँ यह मालूम होता है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रदेव तथा उनके शासन(मत)के विषयमें अन्धश्रद्धालु नहीं थे वहाँ यह भी जाना जाता है कि भक्तियोगमें अन्धश्रद्धाका ग्रहण नहीं है—उसके लिये सुश्रद्धा चाहिये, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। समन्तभद्र ऐसी ही विवेकवती सुश्रद्धासे सम्पन्न थे। अन्धी-भक्ति वास्तवमें उस फलको फल ही नहीं सकती जो भक्तियोगका लक्ष्य और उद्देश्य है।

इसी भक्त्यर्पणाकी बातको प्रस्तुत ग्रन्थमें एक दूसरे ही ढंगसे व्यक्त किया गया है और वह इस प्रकार है :—

अतएव ते बुधनुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्॥

इस वाक्यमें स्वामी समन्तभद्र यह प्रकट करते हैं कि 'हे बुधजनस्तुतजिनेन्द्र! आपके चरित-गुण और अद्भुत उदयको न्यायविहित-युक्तियुक्त-निश्चय करके ही हम बड़े प्रसन्नचित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।'

इससे साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रने जिनेन्द्रके चरित-गुणको और केवलज्ञान तथा समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए अद्भुत उदयकी जाँच की है—परीक्षा की है—और उन्हें

न्यायकी कसौटीपर कसकर ठीक एवं युक्तियुक्त पाया है तथा अपने आत्मविकासके मार्गमें परम सहायक समझा है, इसी लिये वे पूर्ण हृदयसे जिनेन्द्रके भक्त बने हैं और उन्होंने अपनेको उनके चरण-शरणमें अर्पण कर दिया है। अतः उनकी भक्तिमें कुल-परम्परा, रूढिपालन और कृत्रिमता (बनावट-दिखावट)-जैसी कोई बात नहीं थी—वह एक दम शुद्ध विवेकसे संचालित थी और ऐसा ही भक्तियोगमें होना चाहिये।

हाँ, समन्तभद्रका भक्तिमार्ग, जो उनके स्तुति-ग्रंथोंसे भले प्रकार जाना जाता है, भक्तिके सर्वथा एकान्तको लिये हुए नहीं है। स्वयं समन्तभद्र भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे। निरी या कोरी एकान्तता[1] तो उनके पास तक भी नहीं फटकती थी। वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हज्जिनेन्द्रको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायबाण भी एक कारण हैं। अर्हन्तदेव अपने इन एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधक अमोघ न्यायबाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका नाश करके कैवल्य-विभूतिके— केवल-

१ जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' 'कोरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे देवागममें, एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—"न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥"

ज्ञानके साथ साथ समवसरणादि-विभूतिके—सम्राट् हुए हैं. इसीलिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके प्रस्तुत ग्रन्थके निम्नवाक्यमें कहते हैं कि 'आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं'।

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असिस्म कैवल्य-विभूति-सम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः॥

इससे समन्तभद्रकी परीक्षा-प्रधानता, गुणज्ञता और परीक्षा करके सुश्रद्धाके साथ भक्तिमें प्रवृत्त होनेकी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि जब तक एकान्तदृष्टि बनी रहती है तब तक मोह नहीं जीता जाता, जब तक मोह नहीं जीता जाता तब तक आत्म-विकास नहीं बनता और न पूज्यताकी ही प्राप्ति होती है। मोहको उन न्याय-बाणोंसे जीता जाता है जो एकान्तदृष्टिके प्रतिरोधको सिद्ध करनेवाले हैं—सर्वथा एकान्तरूप दृष्टिदोषको मिटाकर अनेकान्तदृष्टिकी प्रतिष्ठा-रूप सम्यग्दृष्टित्वका आत्मामें संचार करनेवाले हैं। इससे तत्त्व-ज्ञान और तत्त्वश्रद्धानका महत्व सामने आ जाता है, जो अने-कान्तदृष्टिके आश्रित है, और इसीसे समन्तभद्र भक्तियोगके एकान्तपक्षपाती नहीं थे। इसी तरह ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके भी वे एकान्त-पक्षपाती नहीं थे—एकका दूसरेके साथ अकाट्य सम्बन्ध मानते थे।

ज्ञान-योग

जिस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा इस संसारी जीवात्मा-को अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकारका — दोषका अथवा विभाव-परिणतिका —, विकारके विशिष्ट कारणोंका और उन्हें

दूर करने, निर्विकार (निर्दोष) बनने, बन्धनरहित (मुक्त) होने तथा अपने निजरूपमें सुस्थित होनेके साधनोंका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर-भूल-भ्रान्तियोंको मिटाकर-आत्मविकास सिद्ध किया जाता है, उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं। इस ज्ञानयोगके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने क्या कुछ कहा है उसका पूरा परिचय तो उनके देवागम, युक्त्यनुशासन आदि सभी ग्रन्थोंके गहरे अध्ययनसे प्राप्त किया जा सकता है। यहांपर प्रस्तुत ग्रन्थमें स्पष्टतया सूत्ररूपसे, सांकेतिक रूपमें अथवा सूचनाके रूपमें जो कुछ कहा गया है उसे, एक स्वतंत्र निबन्धमें संकलित न कर, स्तवन-क्रमसे नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको यह मालूम करनेमें सुविधा रहे कि किस स्तवनमें कितना और क्या कुछ तत्त्वज्ञान सूत्रादिरूपसे समाविष्ट किया गया है। विज्ञजन अपने बुद्धिबल-से उसके विशेष रूपको स्वयं समझ सकेंगे—व्याख्या करके यह बतलानेका यहां अवसर नहीं कि उसमें और क्या क्या तत्त्वज्ञान छिपा हुआ है अथवा उसके साथमें अविनाभावरूपसे सम्बद्ध है। उसे व्याख्या करके बतलानेसे प्रस्तावनाका विस्तार बहुत बढ़ जाता है, जो अपनेको इष्ट नहीं है। तत्त्वज्ञान-विषयक जो कथन जिस कारिकामें आया है उस कारिकाका नम्बर भी साथमें नोट कर दिया गया है।

(१) पूर्ण विकासके लिये प्रबुद्धतत्त्व होकर ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि-परिग्रहका त्याग करके जिनदीक्षा लेना—महाव्रतादिको ग्रहण करना, दीक्षा लेकर आए हुए उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सहना और प्रतिज्ञात सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं होना आवश्यक है (२, ३)। अपने दोषोंके

मूल कारणको अपने ही समाधि-तेजसे भस्म किया जाता है और तभी ब्रह्मपदरूप अमृतका स्वामी बना जाता है (४)।

(२) जो महामुनि घनोपदेहसे—घातिया कर्मोंके आवरणादि-रूप उपलेपसे—रहित होते हैं वे भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलङ्कोंकी—अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि कर्मोंकी—शान्तिके लिये उसी प्रकार निमित्तभूत होते हैं जिस प्रकार कि कमलोंके अभ्युदयके लिये सूर्य (८) [यह ज्ञान भक्ति-योगमें सहायक होता है]। उत्तम और महान् धर्मतीर्थको पाकर भव्यजन दुःखोंपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार कि घामसे संतप्त हुए हाथी शीतल गंगाद्रहमें प्रवेश करके अपना सब आताप मिटा डालते हैं (९)। जो ब्रह्मनिष्ठ (अहिंसा-तत्पर), सम-मित्र-शत्रु और कषाय-दोषोंसे रहित होते हैं वे ही आत्मलक्ष्मीको—अनन्तज्ञानादिरूप जिनश्रीको—प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं (१०)।

(३) यह जगत अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न हुए मिथ्याभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित है, उसे निरंजना शान्तिकी जरूरत है (१२)। इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चंचल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णा-रूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके अधि-काधिक सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णा-की वृद्धि ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि क्लेशकर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीडित करता रहता है (१३)। बन्ध, मोक्ष, दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल, इन सबकी व्यवस्था स्याद्वादी-अने-

कान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है—एकान्तदृष्टियों अथवा सर्वथा एकान्तवादियोंके मतोंमें नहीं—और 'शास्ता' (तत्त्वोपदेष्टा) पदके योग्य स्याद्वादी अर्हन्त-जिन ही होते हैं—उन्हींका उपदेश मानना चाहिये (१४)।

(४) समाधिकी सिद्धिके लिये उभयप्रकारके नैर्ग्रन्थ्य-गुण-से—बाह्याभ्यान्तर दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागसे—युक्त होना आवश्यक है—विना इसके समाधिकी सिद्धि नहीं होती; परन्तु क्षमा सखीवाली दयावधूका त्याग न करके दोनोंको अपने आश्रयमें रखना जरूरी है (१६)। अचेतन शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्म-वश बन्धन है उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिनिवेशको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वक निश्चय कर लेनेके कारण यह जगत नष्ट हो रहा है—आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है (१७)। क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारसे और इन्द्रिय-विषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक अवस्थान नहीं बनता। ऐसी हालतमें क्षुधादि-दुःखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार (इलाज) और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है अतः इन प्रतीकारादिमें आसक्ति (अतीव रागकी प्रवृत्ति) व्यर्थ है (१८)। जो मनुष्य आसक्तिके इस लोक तथा परलोक-सम्बन्धी दोषोंको समझ लेता है वह इन्द्रिय-विषय-सुखोंमें आसक्त नहीं होता; अतः आसक्तिके दोषको भले प्रकार समझ लेना चाहिये (१९)। आसक्तिसे तृष्णाकी अभिवृद्धि होती

है और इस प्राणीकी स्थिति सुखपूर्वक नहीं बनती, इसीसे वह तापकारी है। (चौथे स्तवनमें वर्णित) ये सब लोक-हितकी बातें हैं (२०)।

(५) अनेकान्त-मतसे भिन्न शेष सब मतोंमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्तिके रूपमें प्रतिष्ठा—नहीं बनती, इसीसे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व ही सुयुक्ति-नीत है (२१)। वह सुयुक्ति-नीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है, और यह वस्तुको भेद-अभेदके रूपमें ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमें से एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध होनेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य-निःस्वभाव हो जाता है (२२)। जो सत् है उसके कथञ्चित् असत्व-शक्ति भी होती है; जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्‌रूप है। यदि वस्तुतत्त्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसीसे सर्वजीवादितत्त्व कथञ्चित् सत्-असत्‌रूप अनेकान्तात्मक है। इस मतसे भिन्न जो एकान्त-मत है वह स्ववचन-विरुद्ध है (२३)। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रिया-कारककी योजना ही बन सकती है। (इसी तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सर्वथा सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझ जानेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है (२४)।

(वास्तव में) विधि और निषेध दोनों कथञ्चित् इष्ट हैं। विवक्षा-से उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है (२५)। इस तत्त्वज्ञान-की कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(६) जो केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे आलिंगित चारुमूर्ति होता है वही भव्यजीवरूप कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्यका काम देता है (२६)।

(७) आत्यन्तिक स्वास्थ्य—विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादि-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति—ही जीवात्माओंका स्वार्थ है—क्षणभंगुर भोग स्वार्थ न होकर अस्वार्थ है। इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुःख-की—शान्ति नहीं होने पाती (३१)। जीवके द्वारा धारण किया हुआ शरीर अजंगम, जंगम-नेय-यन्त्र, बीभत्सु, पूति, क्षयि और तापक है और इसलिये इसमें अनुराग व्यर्थ है, यह हितकी बात है (३२)। हेतुद्वयसे आविष्कृत-कार्य-लिङ्गा भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहं-कारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (यंत्र-मंत्र-तंत्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंको वस्तुतः सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता (३३)। यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्यशक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं; नित्य ही कल्याण चाहता है परन्तु (भावी-की उसी अलंघ्यशक्तिवश) उसका लाभ नहीं होता, फिर भी यह मूढ प्राणी भय तथा इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्ता-यमान होता है अथवा भवितव्यता-निरपेक्ष प्राणी वृथा ही भय और इच्छाके वश हुआ दुःख उठाता है (३४)।

(८) जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण-क्रोधादि-कषायोंका नाश कर अकषाय-पद प्राप्त किया है—वे 'जिन' होते हैं (३६)। ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परमशुक्लध्यानके तेज-द्वारा—प्रचुर मानसअन्धकार—ज्ञानावरणादि कर्मजन्य आत्म का समस्त अज्ञानान्धकार—दूर होता है (३७)।

(९) तत्त्व वह है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है तथा प्रमाण-सिद्धि है(४१)। वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप और कथंचित् अतद्रूप है; क्योंकि वैसी ही सत्-असत् आदि रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है—वस्तुके सर्वथा लोपका प्रसंग उपस्थित होता है (४२)। यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनों रूप होना विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरंग निमित्त—सहकारी कारण—अन्तरंग निमित्त—उपादान कारण—और नैमित्तिक—निमित्तों-से उत्पन्न होनेवाले कार्य—के सम्बन्धको लिये हुए है (४३)। पदका वाच्य प्रकृति (स्वभाव) से एक और अनेक रूप है, 'वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह। अनेकान्तात्मक वस्तुके 'अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनमें जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे

आकांक्षी-सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात—स्यात् शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियममें—सर्वथा एकान्तमतमें बाधक होता है (४४)। 'स्यात्' पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए है और इसलिये अनेकान्तवादसे द्वेष रखनेवालोंको अपथ्य-रूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है (४५)। इस स्तवनमें तत्त्वज्ञानकी भी कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(१०) सांसारिक सुखोंकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुआ मन ज्ञानमय अमृतजलोंके सिञ्चनसे मूर्छा-रहित होता है (४७)। आत्मविशुद्धिके मार्गमें दिन रात जागृत रहनेकी—पूर्ण सावधान बने रहनेकी—जरूरत है, तभी वह विशुद्धि सम्पन्न हो सकती है (४८)। मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको पूर्ण-तया रोकनेसे पुनर्जन्मका अभाव होता है और साथ ही जरा भी टल जाती है (४९)।

(११) वह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्वरूप—प्रमाण है जो कथंचित् तादात्म्य-सम्बन्धको लिए हुए प्रतिषेधरूप है—पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है। इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान होता है (वक्ताके अभि-प्रायानुसार, न कि स्वरूपसे)। मुख्यके नियामका—'स्वरूपादि चतुष्टयसे विधि और पररूपादि चतुष्टयसे ही निषेध' इस नियमका—जो हेतु है वह नय है और वह नय दृष्टान्तसमर्थन-दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक—होता है (५२)। विवक्षित मुख्य होता है और अविवक्षित गौण। जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता। मुख्य-गौणकी

व्यवस्थासे एक ही वस्तु, शत्रु, मित्र तथा उभय अनुभय-शक्तिको लिये रहती है। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं)से ही कार्यकारी होती है—विधि-निषेध, सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय-रूप दो दो धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है (५३)। वादी-प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्तकी सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होती है; परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। अनेकान्तदृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अनेकान्तत्वसे व्याप्त है। इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इसलिये उनके सर्वथा नित्यत्वादि साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती (५४)। एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्याय-बाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए शत्रुसमूहका—नाश किया जाता है (५५)।

(१२) जो राग और द्वेषसे रहित होते हैं उन्हें यद्यपि पूजा तथा निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी उनके पुण्य-गुणोंका स्मरण चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है (५७)। पूज्य-जिनकी पूजा करते हुए जो (सराग-परिणति अथवा आरम्भादि-द्वारा) लेशमात्र पापका उपार्जन होता है वह (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होनेवाली) बहुपुण्यराशिमें उसी प्रकारसे दोषका कारण नहीं बनता जिस प्रकार कि विषकी एक कणिका शीत-शिवाम्बुराशिको—ठंडे कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको—दूषित करनेमें समर्थ नहीं होती (५८)। जो बाह्य वस्तु

गुण-दोषकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तनेवाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूलहेतुकी अंगभूत होती है। बाह्यवस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है (५९)। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणोंकी यह पूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है, अन्यथा पुरुषोंमें मोक्षकी विधि भी नहीं बन सकती (६०)।

(१३) जो नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे स्व-पर-प्रणाशी (स्व-पर-वैरी) हैं (और इसलिये 'दुर्नय' हैं) वे ही नय परस्परापेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे स्व-परोपकारी हैं और इसलिये तत्त्वरूप सम्यक् नय हैं (६१)। जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है उसी प्रकार सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिरूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट (अभिप्रेत) हैं (६२)। परस्परमें एक-दूसरेकी अपेक्षाको लिए हुए जो अभेद और भेदका—अन्वय तथा व्यतिरेकका—ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी उसी तरह पूर्णता है जिस तरह कि ज्ञान-लक्षण-प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक रूपमें पूर्ण है। सामान्यके विना विशेष और विशेषके विना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं (६३)। वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है 'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह स्याद्वादमतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य

अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे परिहार हो जाता है जिसकी उक्त मतमें सर्वत्र प्रतिष्ठा रहती है (६४)। जो नय स्यात्पदरूप सत्यसे चिह्नित हैं वे रसोपविद्ध लोह-धातुओंकी तरह अभिप्रेत फलको फलते हैं—यथास्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं (६५)।

(१४) मोह पिशाच, जिसका शरीर अनन्त दोषोंका आधार है और जो चिरकालसे आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए है, तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेसे जीता जाता है (६६)। कषाय पीडनशील शत्रु हैं, उनका नाम निःशेष करनेसे—आत्माके साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद कर देनेसे—मनुष्य अशेषविन् (सर्वज्ञ) होता है। कामदेव विशेष रूपसे शोषक-संतापक एक रोग है, जिसे समाधिरूप औषधके गुणोंसे विलीन किया जाता है (६७)। तृष्णा नदी परिश्रम-जलसे भरी है और उसमें भयरूप तरंग मालाएँ उठती हैं। वह नदी अपरिग्रहरूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सुखाई जाती है—परिग्रहके संयोगसे वह उत्तरोत्तर बढ़ा करती है (६८)।

(१५) तपश्चरणरूप अग्नियोंसे कर्मवन जलाया जाता है और शाश्वत सुख प्राप्त किया जाता है (७१)।

(१६) दयामूर्ति बननेसे पापकी शांति होती है ७६; समाधिचक्रसे दुर्जय मोहचक्र—मोहनीय कर्मका मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंच—जीता जाता है ७७; कर्म-परतंत्र न रहकर आत्मतन्त्र बनने पर आर्हन्त्य-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ७८; ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्त(कर्म)चक्र जीता जाता है ७९; अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोष-विकार ही आत्मामें अशान्तिके कारण हैं, जो अपने दोषोंको शान्त कर आत्मामें शान्तिकी प्रतिष्ठा करनेवाला

होता है वही शरणागतोंके लिये शान्तिका विधाता होता है और इसलिये जिसके आत्मामें स्वयं शान्ति नहीं वह शरणागतके लिये शान्तिका विधाता भी नहीं हो सकता ८० ।

(१७) जिनदेव कुन्थ्वादि सब प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए होते हैं और उनका धर्मचक्र ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्तिके लिए प्रवर्तित होता है (८१) । तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि-ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं । इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे—प्रचुर परिमाणमें सम्प्राप्तिसे—नहीं होती, उलटी वृद्धि ही होती है. ऐसी ही वस्तु-स्थिति है । सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके संतापको मिटानेमें निमित्तमात्र हैं—तृष्णारूप अग्निज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते (८२) । बाह्य दुर्द्धर तप आध्यात्मिक (अन्तरंग) तपकी वृद्धिके लिये विधेय हैं । चार ध्यानोंमेंसे आदिके दो कलुषित ध्यान (आर्त्त-रौद्र) हेय (ताज्य) हैं और उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यान (धर्म्य, शुक्ल) उपादेय हैं (८३)। कर्मोंकी (आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे) चार मूल प्रकृतियां (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कटुक (घातिया) हैं और वे सम्यग्दर्शनादिरूप सातिशय रत्नत्रयाग्निसे भस्म की जाती हैं. उनके भस्म होनेपर ही आत्मा जातवीर्य—शक्तिसम्पन्न अथवा विकसित—होता है और सकल-वेद-विधिका विनेता बनता है (८४) ।

(१८)पुण्यकीर्ति मुनीन्द्र(जिनेन्द्र)का नाम-कीर्तन भी पवित्र करता है (८५) । मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा विभव और साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान निःसार जान पड़ता है (८८) । कषाय-भटोंकी सेनासे युक्त जो मोहरूप शत्रु है वह पापात्मक

है, उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा (परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक् चारित्र) रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे जीता जाता है (९०)। जो धीर वीर मोहपर विजय प्राप्त किये होते हैं उनके सामने त्रिलोक-विजयी दुर्द्धर कामदेव भी हतप्रभ हो जाता है (९१)। तृष्णा-नदी इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है, उसे निर्दोषज्ञान-नौकासे पार किया जाता है (९२)। रोग और पुनर्जन्म जिसके साथी हैं वह अन्तक (यम) मनुष्यों को रुलाने-वाला है; परन्तु मोह-विजयीके सन्मुख उसकी एक भी नहीं चलती (९३)। आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए जो रूप है वह दोषोंके विनिग्रहका सूचक है (९४)। ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक (ज्ञानावरणादिरूप भीतरी) अन्धकार दूर होता है। (९५)। सर्वज्ञज्योतिसे उत्पन्न हुआ महिमोदय सभी विवेकी प्राणियोंको नतमस्तक करता है (९६)। सर्वज्ञकी वाणी सर्व-भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए होता है और अमृतके समान प्राणियोंको सन्तुष्ट करती है (९७)।

अनेकान्तदृष्टि सती है—सत्स्वरूप सच्ची है—और उसके विपरीत एकान्तदृष्टि शून्यरूप असती है—सच्ची नहीं है। अतः जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या कथन है; क्योंकि वह अपना ही—सत् या असत् आदिरूप एकान्तका ही—घातक है—अनेकान्तके विना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती (९८)।

जो आत्मघाती एकान्तवादी अपने स्ववाप्ति-दोषको दूर करनेमें असमर्थ हैं, स्याद्वादसे द्वेष रखते हैं और यथावत् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं उन्होंने तत्त्वकी अवक्तव्यताको आश्रित

किया है—वस्तुतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है ऐसा प्रतिपादन किया है (१००)।

सत्, असत, एक, अनेक, नित्य, अनित्य, वक्तव्य और अवक्तव्यरूपमें जो नयपक्ष हैं वे सर्वथ रूपमें तो अतिदूषित हैं—मिथ्यानय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं और स्यात् रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं—सम्यकनय हैं अर्थात् स्वकीय अर्थका निर्बाध-रूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं (१०१)।

'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपमें वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला है। यह शब्द एका-न्तवादियोंके न्यायमें नहीं है। एकान्तवादी अपने वैरी आप हैं (१०२)।

स्याद्वादरूप आर्हत-मतमें सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी प्रमाण और नय-साधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है, प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप और विवक्षित-नयकी दृष्टिसे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियत-धर्मरूप—सिद्ध होता है (१०३)।

(१९) अर्हत्प्रतिपादित धर्मतीर्थ संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंके लिये पार उतरनेका प्रधान मार्ग है (१०९)। शुक्ल-ध्यानरूप परमतपोग्नि (परम्परासे चले आनेवाले) अनन्त-दुरितरूप कर्माष्टकको भस्म करनेके लिए समर्थ है (११०)।

(२०) 'चर और अचर जगत प्रत्येक क्षणमें 'ध्रौव्य उत्पाद और व्यय-लक्षणोंको लिए हुए है' यह वचन जिनेन्द्रकी सर्वज्ञता-का चिह्न है (११४)। आठों पापमलरूप कलङ्कोंको (जिन्होंने जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर रक्खा है)

अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—भस्म किया जाता है और ऐसा करके ही अभव-सौख्यको—संसारमें न पाए जाने वाले अतीन्द्रिय मोक्ष-सुखको—प्राप्त किया जाता है (११५)।

(२१) साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामकी कारण होती है और उसके द्वारा श्रेयोमार्ग सुलभ होता है (११६)। परमात्म-स्वरूप अथवा शुद्धात्मस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करनेसे जन्मनि-गडको समूल नष्ट किया जाता है (११७)।

वस्तुतत्त्व बहुत नयोंकी विवक्षाके वशसे विधेय, प्रतिषेध्य, उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयानुभय, प्रतिषेध्यानुभय और उभयाऽनुभय—रूप है उसके अपरिमित विशेषों (धर्मों) मेंसे प्रत्येक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिए रहता है और सप्तभङ्गके नियमको अपना विषय किये रहता है (११८)। अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो वहाँ अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा होती है—अन्यत्र नहीं। अहिंसा परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जो स्वाभाविक वेषको छोड़कर विकृतवेष तथा उपाधिमें रत होते हैं उनसे परिग्रहका वह त्याग नहीं बनता (११९)। मनुष्यके शरीरका इन्द्रियोंकी शान्तताको लिए हुए आभूषण, वेष तथा (वस्त्र प्रावरणादिरूप) व्यवधानसे रहित अपने प्राकृतिक (दिगम्बर) रूपमें होना और फलतः काम-क्रोधका पासमें न फटकना निर्मोही होनेका सूचक है और जो निर्मोही होता है वही शान्ति-सुखका स्थान होता है (१२०)।

(२२) परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञाना-वरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया जाता है, उसके भस्म

होते ही ज्ञानकी विपुलकिरणें प्रकट होती हैं, जिनसे सकल जगतको प्रतिबुद्ध किया जाता है (१२१)। और ऐसा करके ही अनवद्य (निर्दोष) विनय और दमरूप तीर्थका नायकत्व प्राप्त होता है (१२२)। केवलज्ञान-द्वारा अखिलविश्वको युगपत् कर-तलामलकवत जाननेमें बाह्यकरण चक्षुरादिक इन्द्रियां और अन्तःकरण मन ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते हैं (१३०)

(२३) जो योगनिष्ठ महामना होते हैं वे घोर उपद्रव आनेपर भी पार्श्वजिनके समान अपने उस योगसे चलायमान नहीं होते (१३१)। अपने योग (शुक्लध्यान) रूप खडगकी तीक्ष्ण-धारसे दुर्जय मोहशत्रुका घात करके वह आर्हन्त्यपद प्राप्त किया जाता है जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजा-तिशयका स्थान है (१३३)। जो समग्रधी (सर्वज्ञ) सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंका प्रणायक और मिथ्या दर्शनादिरूप कुमार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोंका विनाशक होता है वह सदा वन्दनीय होता है (१३५)।

(२४) गुण-समुत्थ-कीर्ति शोभाका कारण होती है (१३६)। जिनेन्द्र-गुणोंमें जो अनुशासन प्राप्त करते हैं—उन्हें अपने आत्मामें विकसित करनेके लिये आत्मीय दोषोंको दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न करते हैं—वे विगत-भव होते हैं—संसार परिभ्रमणसे सदाके लिए छूट जाते हैं। दोप चाबुककी तरह पीडनशील हैं (१३७)।

'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए जो 'स्याद्वाद' है—अनेकान्ता-त्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट

(प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिए हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं किन्तु अपने इष्ट अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध एवं प्रमाणित करनेमें समर्थ नहीं होता (१३८)।

वीरजिनेन्द्रका स्याद्वादरूप शासन (प्रवचन-तीर्थ) श्री-सम्पन्न है—हेयोपादेय-तत्त्व-परिज्ञान-लक्षण-लक्ष्मीसे विभूषित है—निष्कपट यम (अहिंसादि महाव्रतोंके अनुष्ठान) और दम (इन्द्रिय-जय तथा कषाय-निग्रह) की शिक्षाको लिए हुए है, नयोंके भङ्गरूप अथवा भक्तिरूप अलङ्कारोंसे अलंकृत है, यथार्थ-वादिता एवं परहित प्रतिपादनतादिक बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है; पूर्ण है और सब ओरसे भद्ररूप है—कल्याणकारी है (१४१, (१४३)।

तत्त्वज्ञान-विषयक ज्ञानयोगकी इन सब बातोंके अलावा २४ स्तवनोंमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके गुणोंका जो परिचय पाया जाता है और जिसे प्रायः अर्हद्विशेषण-पदोंमें समाविष्ट किया गया है वह सब भी ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है। उन अर्हद् गुणोंका तात्त्विक परिचय प्राप्त करना, उन्हें आत्मगुण समझना और अपने आत्मामें उनके विकासको शक्य जानना यह सब ज्ञाना-भ्यास भी ज्ञानयोगसे भिन्न नहीं है। भक्तियोग-द्वारा उन गुणों-में अनुराग बढाया जाता है और उनकी सम्प्राप्तिकी रुचि एवं इच्छाको अपने आत्मामें एक पूर्ण आदर्शको सामने रखकर जागृत और पुष्ट किया जाता है। यही दोनोंमें भेद है। ज्ञान और

इच्छाके बाद जब प्रयत्न चलता है और तदनुकूल आचरणादिके द्वारा उन गुणोंको आत्मामें विकसित किया जाता है तो वह कर्म-योगका विषय बन जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थगत चौवीस स्तवनोंमें अलग-अलग रूपसे जो ज्ञानयोग-विषयक तत्त्वज्ञान भरा हुआ है वह सब अर्हद्गुणों-की तरह वीरजिनेन्द्रका तत्त्वज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। वीर-वाणीमें ही वह प्रकट हुआ है और वीरका ही प्रवचनतीर्थ इस समय प्रवर्तित है। इससे वीर-शासन और वीरके तत्त्वज्ञानकी कितनी ही सार बातोंका परिचय सामने आजाता है, जिनसे उनकी महत्ताको भले प्रकार आँका जा सकता है, साथ ही आत्म-विकासकी तय्यारीके लिए एक समुचित आधार भी मिलजाता है।

वस्तुतः ज्ञानयोग भक्तियोग और कर्मयोग दोनोंमें सहायक है और सामान्य-विशेषादिकी दृष्टिसे कभी उनका साधक होता है तो कभी उनके द्वारा साध्य भी बन जाता है। जैसे सामान्यज्ञानसे भक्तियोगादिक यदि प्रारम्भ होता है तो विशेषज्ञानका उनके द्वारा उपार्जन भी किया जाता है। ऐसी ही स्थिति दूसरे योगोंकी है, और इसीसे एकको दूसरे योगके साथ सम्बन्धित बतलाया गया है—मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे ही उनका व्यवहार चलता है। एक योग जिस समय मुख्य होता है उस समय दूसरे योग गौण होते हैं—उन्हें सर्वथा छोड़ा नहीं जाता। तीनोंके परस्पर सहयोगसे ही आत्माका पूर्ण विकास सधता अथवा सिद्ध होता है।

कर्म-योग

मन-वचन-काय-सम्बन्धी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है, उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। और इसलिये

कर्मयोग दो प्रकारका है—एक क्रियाकी निवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए और दूसरा क्रियाकी प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए। निवृत्ति-प्रधान कर्मयोगमें मन-वचन-कायमेंसे किसीकी भी क्रिया-का, तीनोंकी क्रियाका अथवा अशुभ क्रियाका निरोध होता है। और प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगमें शुभ कर्मोंमें त्रियोग-क्रियाकी प्रवृत्ति होती है—अशुभमें नहीं; क्योंकि अशुभ कर्म विकासमें साधक न होकर बाधक होते हैं। राग-द्वेषादिसे रहित शुद्धभावरूप प्रवृत्ति भी इसीके अन्तर्गत है। सच पूछिये तो प्रवृत्ति बिना निवृत्तिके और निवृत्ति बिना प्रवृत्तिके होती ही नहीं—एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए हैं। निवृत्तियोगमें प्रवृत्तिकी और प्रवृत्तियोगमें निवृत्तिकी गौणता है। सर्वथा प्रवृत्ति या सर्वथा निवृत्तिका एकान्त नहीं बनता। और इसलिये ज्ञानयोगमें जो बातें किसी-न-किसी रूपसे विधेय ठहराई गई हैं, उचित तथा आवश्यक बतलाई गई हैं अथवा जिनका किसी भी तीर्थङ्करके द्वारा स्व-विकासके लिये किया जाना विहित हुआ है उन सबका विधान एवं अनुष्ठान कर्मयोगमें गर्भित है। इसी तरह जिन बातोंको दोषादिकके रूपमें हेय बतलाया गया है, अविधेय तथा अकरणीय सूचित किया गया है अथवा किसी भी तीर्थङ्करके द्वारा जिनका छोड़ना-तजना या उनसे विरक्ति धारण करना आदि कहा गया है उन सबका त्याग एवं परिहार भी कर्मयोगमें दाखिल (शामिल) है। और इसलिये कर्मयोग-सम्बन्धी उन सब बातोंको पूर्वोल्लिखित ज्ञान-योगसे ही जान लेना और समझ लेना चाहिये। उदाहरणके तौरपर प्रथम-जिन-स्तवनके ज्ञानयोगमें ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि परिग्रहका त्याग करके जिन-दीक्षा लेना, उपसर्ग-परीषहोंका समभावसे सहना और सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान

न होना-जैसी जिन बातोंको पूर्ण विकासके लिये आवश्यक बतलाया गया है उनका और उनकी इस आवश्यकताका परिज्ञान ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है; और उनपर अमल करना तथा उन्हें अपने जीवनमें उतारना यह कर्मयोगका विषय है। साथ ही, 'अपने दोषोंके मूलकारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है' यह जो विधिवाक्य दिया गया है इसके मर्मको समझना, इसमें उल्लिखित दोषों, उनके मूलकारणों, समाधितेज और उसकी प्रक्रियाको मालूम करके अनुभवमें लाना, यह सब ज्ञानयोगका विषय है और उन दोषों तथा उनके कारणोंको उस प्रकारसे भस्म करनेका जो प्रयत्न, अमल अथवा अनुष्ठान है वह सब कर्मयोग है। इसी तरह अन्य स्तवनोंके ज्ञानयोगमेंसे भी कर्मयोग-सम्बन्धी बातोंका विश्लेषण करके उन्हें अलगसे समझ लेना चाहिये, और यह बहुत कुछ सुख-साध्य है। इसीसे उन्हें फिरसे यहां देकर प्रस्तावनाको विस्तार देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। हाँ, स्तवन-क्रमको छोड़कर, कर्मयोगका उसके आदि-मध्य और अन्तकी दृष्टिसे एक संक्षिप्त सार यहां दे देना उचित जान पड़ता है और वह पाठकोंके लिए विशेष हितकर तथा रुचिकर होगा। अतः सारे ग्रन्थका दोहन एवं मथन करके उसे देनेका आगे प्रयत्न किया जाता है। ग्रन्थके स्थलोंकी यथावश्यक सूचना ब्रेकटके भीतर पद्याङ्कोंमें रहेगी।

कर्मयोगका आदि-मध्य और अन्त

कर्मयोगका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास। आत्माके इस पूर्ण विकासको ग्रन्थमें—ब्रह्मपदप्राप्ति (४), ब्रह्म-निष्ठावस्था, आत्मलक्ष्मीकी लब्धि, जिनश्री तथा आर्हन्त्यलक्ष्मी-की प्राप्ति (१०, ७८), आर्हन्त्य-पदावाप्ति (१३३), आत्यन्तिक

स्वास्थ्य = स्वात्मस्थिति (३१), आत्म-विशुद्धि (४८), कैवल्योपलब्धि (५५), मुक्ति, विमुक्ति (२७), निर्वृति (५०, ६८), मोक्ष (६०, ७३, ११७), श्रायस (११६), श्रेयस् (५१, ७५), निःश्रेयस (५०), निरंजना शान्ति (१२), उच्चशिवताति (१५), शाश्वतशर्मावाप्ति (७१), भवक्लेश-भयोपशान्ति (८०) और भवोपशान्ति तथा अभव-सौख्य-संप्राप्ति (११५), जैसे पद-वाक्यों अथवा नामोंके द्वारा उल्लिखित किया है। इनमेंसे कुछ नाम तो शुद्धस्वरूपमें स्थितिपरक अथवा प्रवृत्तिपरक हैं, कुछ पररूपसे निवृत्तिके द्योतक हैं और कुछ उस विकासावस्थामें होनेवाले परम शान्ति-सुखके सूचक हैं। 'जिनश्री' पद उपमालंकारकी दृष्टिसे 'आत्मलक्ष्मी' का ही वाचक है; क्योंकि घातिकर्ममलसे रहित शुद्धात्माको अथवा आत्मलक्ष्मीके सातिशय विकासको प्राप्त आत्माको ही 'जिन' कहते हैं। 'जिनश्री' का ही दूसरा नाम 'निजश्री'[1] है। 'जिन' और अर्हत्पद समानार्थक होनेसे आर्हन्त्यलक्ष्मीपद भी आत्मलक्ष्मीका ही वाचक है। इसी स्वात्मोपलब्धिको पूज्यपाद आचार्यने, सिद्धभक्तिमें, 'सिद्धि' के नामसे उल्लेखित किया है[2]।

अपने शुद्धस्वरूपमें स्थितिरूप यह आत्माका विकास ही मनुष्योंका स्वार्थ है—असली स्वप्रयोजन है—क्षणभंगुरभोग—इन्द्रिय-विषयोंका सेवन—उनका स्वार्थ नहीं है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

---

१ स्तुतिविद्याके पार्श्वजिन-स्तवनमें 'पुरुनिजश्रियं' पदके द्वारा इसी नामका उल्लेख किया गया है।

२ "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्।"

स्वास्थ्यं यदात्यान्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥

और इसलिये इन्द्रिय-विषयोंको भोगनेके लिये—उनसे तृप्ति प्राप्त करनेके लिये—जो भी पुरुषार्थ किया जाता है वह इस ग्रन्थके कर्मयोगका विषय नहीं है। उक्त वाक्यमें ही इन भोगोंको उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धिके कारण बतलाया है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक तापकी शान्ति होने नहीं पाती। अन्यत्र भी ग्रन्थमें इन्हें तृष्णाकी अभिवृद्धि एवं दुःख-संतापके कारण बतलाया है तथा यह भी बतलाया है कि इन विषयोंमें आसक्ति होनेसे मनुष्योंको सुखपूर्वक स्थिति नहीं बनती और न देह अथवा देही (आत्मा) का कोई उपकार ही बनता है (१३, १८, २०, ३१, ८२)। मनुष्य प्रायः विषय-सुखकी तृष्णाके वश हुए दिनभर श्रमसे पीड़ित रहते हैं और रातको सो जाते हैं—उन्हें आत्महितकी कोई सुधि ही नहीं रहती (४८)। उनका मन विषय-सुखकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित-जैसा हो जाता है (४७)। इस तरह इन्द्रिय-विषयको हेय बतलाकर उनमें आसक्तिका निषेध किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उस कर्मयोगके विषय ही नहीं जिसका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास।

पूर्णतः आत्मविकासके अभिव्यञ्जक जो नाम ऊपर दिये हैं उनमें मुक्ति और मोक्ष ये दो नाम अधिक लोकप्रसिद्ध हैं और दोनों बन्धनसे छूटनेके एक ही आशयको लिये हुए हैं। मुक्ति

अथवा मोक्षका जो इच्छुक है उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। मुमुक्षु होने-से कर्मयोगका प्रारम्भ होता है—यही कर्मयोगकी आदि अथवा पहली सीढ़ी है। मुमुक्षु बननेसे पहले उस मोक्षका जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा हृदयमें जागृत हुई है, उस बन्धनका जिससे छूटनेका नाम मोक्ष है, उस वस्तु या वस्तु-समूहका जिससे बन्धन बना है, बन्धनके कारणोंका, बन्धन जिसके साथ लगा है उस जीवात्माका, बन्धनसे छूटनेके उपायोंका और बन्धनसे छूटनेमें जो लाभ है उसका अर्थात् मोक्षफलका सामान्य ज्ञान होना अनिवार्य है—उस ज्ञानके बिना कोई मुमुक्षु बन ही नहीं सकता। यह ज्ञान जितना यथार्थ विस्तृत एवं निर्मल होगा अथवा होता जायगा और उसके अनुसार बन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायोंको जितना अधिक तत्परता और सावधानीके साथ काममें लाया जायगा उतना ही अधिक कर्मयोग सफल होगा, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। बन्ध, मोक्ष तथा दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल इन सब बातोंका कथन यद्यपि अनेक मतोंमें पाया जाता है परन्तु इनकी समुचित व्यवस्था स्याद्वादी अर्हन्तोंके मतमें ही ठीक बैठती है, जो अने-कान्तदृष्टिको लिये होता है। सर्वथा एकान्तदृष्टिको लिये हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्वादि एकान्तपक्षोंके प्रति-पादक जो भी मत हैं, उनमेंसे किसीमें भी इनकी समुचित व्यवस्था नहीं बनती। इसी बातको ग्रन्थकी निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्चहेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।

स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥

और यह बात बिल्कुल ठीक है। इसको विशेष रूपमें सुमति-जिन आदिके स्तवनोंमें पाये जानेवाले तत्त्वज्ञानसे, जिसे ऊपर ज्ञानयोगमें उद्धृत किया गया है, और स्वामी समन्तभद्रके देवागम तथा युक्त्यनुशासन-जैसे ग्रन्थोंके अध्ययनसे और दूसरे भी जैनागमोंके स्वाध्यायसे भले प्रकार अनुभूत किया जा सकता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बन्धनको 'अचेतनकृत' (१७) बतलाया है और उस अचेतनको जिससे चेतन (जीव) बँधा है 'कर्म' (७१. ८४) कहा है, 'कृतान्त' (७९) नाम भी दिया है और दुरित (१०५, ११०), दुरिताञ्जन (५७), दुरितमल (११५), कल्मष (१२१) तथा 'दोषमूल' (४) जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया है। वह कर्म अथवा दुरितमल आठ प्रकारका (११५) है—आठ उसकी मूल प्रकृतियाँ हैं, जिनके नाम हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय (मोह), ४ अन्तराय, ५ वेदनीय, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ आयु। इनमेंसे प्रथम चार प्रकृतियाँ कटुक (८४) हैं—बड़ी ही कड़वी हैं, आत्माके स्वरूपको घात करनेवाली हैं और इसलिये उन्हें घातिया' कहा जाता है, शेष चार प्रकृतियां 'अघातिया' कहलाती हैं। इन आठों जड़ कर्ममलोंके अनादि सम्बन्धसे यह जीवात्मा मलिन, अपवित्र, कलंकित, विकृत और स्वभावसे च्युत होकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है; अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक असंख्य-अनन्त दोषोंका क्रीड़ास्थल बना हुआ है, जो तरह तरहके नाच नचा रहे हैं; और इन दोषोंके नित्यके ताण्डव एवं

उपद्रवसे सदा अशान्त, उद्विग्न अथवा बेचैन बना रहता है और और उसे कभी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। इन दोषोंकी उत्पत्तिका प्रधान कारण उक्त कर्ममल है, और इसीसे उसे 'दोष-मूल' कहा गया है। वह पुद्गलद्रव्य होनेसे 'द्रव्यकर्म' भी कहा जाता है और उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंको 'भावकर्म' कहते हैं। इन द्रव्य-भाव-रूप उभय प्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध जब आत्मासे नहीं रहता—उसका पूर्णतः विच्छेद हो जाता है—तभी आत्माको असली सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके प्रायः सभी गुण विकसित हो उठते हैं। यह सुख-शान्ति आत्मामें बाहरसे नहीं आती और न गुणोंका कोई प्रवेश ही बाहरसे होता है, आत्माकी यह सब निजी सम्पत्ति है जो कर्ममलके कारण आच्छादित और विलुप्तसी रहती है और उस कर्ममलके दूर होते ही स्वतः अपने असली रूपमें विकासको प्राप्त हो जाती है। अतः इस कर्ममलको दूर करना अथवा जलाकर भस्म कर देना ही कर्मयोगका परम पुरुषार्थ है। वह परमपुरुषार्थ योग-बलका सातिशय प्रयोग है, जिसे 'निरुपमयोगबल' लिखा है और जिसके उस प्रयोगसे समूचे कर्ममलको भस्म करके उस अभव-सौख्यको प्राप्त करनेकी घोषणा की गई है जो संसारमें नहीं पाया जाता (११५)। इस योगके दूसरे प्रसिद्ध नाम प्रशस्त (सातिशय) ध्यान (८३), शुक्लध्यान (११०) और समाधि (४,७७) हैं। कर्म-दहन-गुण-सम्पन्न होनेसे इस योग, ध्यान अथवा समाधिको, जो कि एक प्रकारका तप है, अग्नि (तेज) कहा गया है[१]। इसी अग्निमें उक्त पुरुषार्थ-द्वारा कर्ममलको जलाया जाता है, जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

१ कर्म-छेदनकी शक्तिसे भी सम्पन्न होनेके कारण इन योगादिकको कहीं कहीं खड्ग तथा चक्रकी भी उपमा दी गई है। यथा :—

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (४)।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः (७१)।
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् (७९)।
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् (११०)।
परमयोग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः (१२१)

यह योगाग्नि क्या वस्तु है? इसका उत्तर ग्रन्थके निम्न वाक्य-परसे ही यह फलित होता है कि 'योग वह सातिशय अग्नि है जो रत्नत्रयकी एकाग्रताके योगसे सम्पन्न होती है और जिसमें सबसे पहले कर्मोंकी कटुक प्रकृतियोंकी आहुति दी जाती है'—

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशय-तेजसि-जात-वीर्यः। (८४)

'रत्नत्रय' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको कहते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थसे प्रकट है। इस ग्रन्थमें भी उसके तीनों अङ्गोंका उल्लेख है और वह

"समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम (७७)।"
"स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम (१३३)"

एक स्थानपर समाधिको कर्मरोग निर्मूलनके लिये 'भैषज्य' (अमोघ-औषधि) की भी उपमा दी गई है—
'विशेषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयन (६७)'

दृष्टि, संवित् एवं उपेक्षा-जैसे शब्दोंके द्वारा किया गया है (९०)[1], जिनका आशय सम्यग्दर्शनादिकसे ही है। इन तीनोंकी एकाग्रता जब आत्माकी ओर होती है—आत्माका ही दर्शन, आत्माका ही ज्ञान, आत्मामें ही रमण होने लगता है—और परमें आसक्ति छूटकर उपेक्षाभाव आजाता है तब यह अग्नि सातिशयरूपमें प्रज्वलित हो उठती है और कर्म-प्रकृतियोंको सविशेषरूपसे भस्म करने लगती है। यह भस्म-क्रिया इन त्रिरत्न किरणोंकी एकाग्रतासे उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार कि सूर्यरश्मियोंको शीशे या काँच-विशेषमें एकाग्र कर शरीरके किसी अङ्ग अथवा वस्त्रादिक पर डाला जाता है तो उनसे वह अङ्गादिक जलने लगता है। सचमुच एकाग्रतामें बड़ी शक्ति है। इधर-उधर बिखरी हुई तथा भिन्नाग्रमुख शक्तियां वह काम नहीं देतीं जो कि एकत्र और एकाग्र (एकमुख) होकर देती हैं। चिन्ताके एकाग्र-निरोधका नाम ही ध्यान तथा समाधि है। आत्म-विषयमें यह चिन्ता जितनी एकाग्र होती जाती है सिद्धि अथवा स्वात्मोपलब्धि भी उतनी ही समीप आती जाती है। जिस समय इस एकाग्रतासे सम्पन्न एवं प्रज्वलित योगानलमें कर्मोंकी चारों मूल कटुक प्रकृतियां अपनी उत्तर और उत्तरोत्तर शाखा-प्रकृतियोंके साथ भस्म हो जाती हैं अथवा यों कहिए कि सारा घाति-कर्ममल जलकर आत्मासे अलग हो जाता है उस समय आत्मा जातवीर्य (परम-शक्तिसम्पन्न) होता है—उसकी अनन्त दर्शन, अनन्त-

१ 'दृष्टि-संविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर पराजितः' इस वाक्यके द्वारा इन्हें 'अस्त्र' भी लिखा है, जो आग्नेयअस्त्र हो सकते हैं अथवा कर्मछेदनकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण खड्गादि जैसे आयुध भी हो सकते हैं।

ज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य नामकी चारों शक्तियां पूर्णतः विकसित हो जाती हैं और सबको देखने-जाननेके साथ साथ पूर्ण-सुख-शान्तिका अनुभव होने लगता है। ये शक्तियाँ ही आत्माकी श्री हैं, लक्ष्मी हैं, शोभा हैं। और यह विकास उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका कि सुवर्ण-पाषाणसे सुवर्णका होना है। पाषाण-स्थित सुवर्ण जिस तरह अग्नि-प्रयोगादिके योग्य साधनोंको पाकर किट्ट-कालिमादि पाषाणमलसे अलग होता हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी तरह यह संसारी जीव उक्त कर्ममलके भस्म होकर पृथक् होजानेपर अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है[1]। घाति-कर्ममलके अभावके साथ प्रादुर्भूत होनेवाले इस विकासका नाम ही 'आर्हन्त्यपद' है जो बड़ा ही अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष) का स्थान है (१३३)। इसीको जिनपद, कैवल्यपद तथा ब्रह्मपदादि नामोंसे उल्लेखित किया जाता है।

ब्रह्मपद आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाके सिवा दूसरी कोई चीज़ नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रन्थमें 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' (११६) इस वाक्यके द्वारा अहिंसाको 'परमब्रह्म' बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि अहिंसा आत्मामें राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंकी निवृत्ति अथवा

१ सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुणगणोच्छादिदोषापहारात्।
योग्योपादान-युक्त्या दृषद् इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥१॥
—पूज्यपाद-सिद्धभक्ति

अप्रादुर्भूतिको कहते हैं[1]। जब आत्मामें रागादि-दोषोंका समूलनाश होकर उसकी विभाव-परिणति मिट जाती है और अपने शुद्धस्वरूपमें चर्या होने लगती है तभी उसमें अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा कही जाती है, और इसलिये शुद्धात्म-चर्यारूप अहिंसा ही परमब्रह्म है—किसी व्यक्ति विशेषका नाम ब्रह्म तथा परमब्रह्म नहीं है। इसीसे जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह आत्म-लक्ष्मीकी सम्प्राप्तिके साथ साथ 'सम-मित्र-शत्रु' होता तथा 'कषाय-दोषोंसे रहित' होता है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-र्विद्या-विनिर्वान्त-कषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान्विधत्ताम्॥

यहाँ ब्रह्मनिष्ठ अजित भगवानसे 'जिनश्री'की जो प्रार्थना की गई है उससे स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' और 'जिन' एक ही हैं, और इसलिये जो 'जिनश्री' है वही 'ब्रह्मश्री' है—दोनोंमें तात्त्विकदृष्टि-से कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर होता तो ब्रह्मनिष्ठसे ब्रह्मश्रीकी प्रार्थना की जाती, न कि जिनश्रीकी। अन्यत्र भी, वृषभतीर्थ-ङ्करके स्तवन (४) में जहां 'ब्रह्मपद' का उल्लेख है वहां उसे 'जिनपद' के अभिप्रायसे सर्वथा भिन्न न समझना चाहिये। वहां अगले ही पद्य (५) में उन्हें स्पष्टतया 'जिन' रूपसे उल्लेखित भी किया है। दोनों पदोंमें थोड़ासा दृष्टिभेद है—'जिन' पद कर्मके निषेधकी दृष्टिको लिये हुए है और 'ब्रह्म' पद स्वरूपमें अवस्थिति अथवा प्रवृत्तिकी दृष्टिको प्रधान किये हुए

1. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः।

है। कर्मके निषेधविना स्वरूपमें प्रवृत्ति नहीं बनती और स्वरूपमें प्रवृत्तिके विना कर्मका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता। विधि और निषेध दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके विना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं बनता. यह बात प्रस्तुत ग्रन्थमें खूब स्पष्ट करके समझाई गई है। अतः संज्ञा अथवा शब्द-भेदके कारण सर्वथा भेदकी कल्पना करना न्याय-संगत नहीं है। अस्तु।

जब घाति-कर्ममल जलकर अथवा शक्तिहीन होकर आत्मा-से बिल्कुल अलग हो जाता है तब शेष रहे चारों अघातियाकर्म, जो पहले ही आत्माके स्वरूपको घातनेमें समर्थ नहीं थे. पृष्ठबल-के न रहनेपर और भी अधिक अघातिया हो जाते एवं निर्बल पड़ जाते हैं और विकसित आत्माके सुखोपभोग एवं ज्ञानादि-ककी प्रवृत्तिमें जरा भी अड़चन नहीं डालते। उनके द्वारा निर्मित, स्थित और संचालित शरीर भी अपने बाह्यकरण-स्पर्शनादिक इन्द्रियों और अन्तःकरण—मनके साथ उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करता और न अपने उभयकरणोंके द्वारा कोई उपकार ही सम्पन्न करता है[1]। उन अघातिया प्रकृतियोंका नाश उसी पर्यायमें अवश्यंभावी होता है—आयुकर्मकी स्थिति पूरी होते होते अथवा पूरी होनेके साथ साथ ही वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं अथवा योग-निरो-धादिके द्वारा सहजमें ही नष्ट कर दी जाती हैं। और इसलिये जो घातियाकर्म प्रकृतियोंका नाश कर आत्मलक्ष्मीको प्राप्त होता है उसका आत्मविकास प्रायः पूरा ही हो जाता है, वह

१. जैसाकि ग्रन्थगत स्वामीसमन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—
बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत्।
नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ॥१२९॥

शरीर-सम्बन्धको छोड़कर अन्य सब प्रकारसे मुक्त होता है और इसीसे उसे 'जीवन्मुक्त' या 'सदेहमुक्त' कहते हैं—'सकलपरमात्मा' भी उसका नाम इसी शारीरिक दृष्टिको लेकर है। उसके उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करना, विदेहमुक्त होना और निष्कल परमात्मा बनना असंदिग्ध तथा अनिवार्य हो जाता है—उसकी इस सिद्धपद-प्राप्तिको फिर कोई रोक नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि घाति-कर्ममलको आत्मासे सदाके लिये पृथक् कर देना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और इस लिये कर्मयोगमें सबसे अधिक महत्त्व इसीको प्राप्त है। इसके बाद जिस अन्तिम समाधि अथवा शुक्लध्यानके द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मप्रकृतियोंका मूलतः विनाश किया जाता है और सकलकर्मसे विमुक्तिरूप मोक्षपदको प्राप्त किया जाता है उसके साथ ही कर्मयोगकी समाप्ति हो जाती है और इसलिए उक्त अन्तिम समाधि ही कर्मयोगका अन्त है, जिसका प्रारम्भ 'मुमुक्षु' बननेके साथ साथ होता है।

अब कर्मयोगके 'मध्य' पर विचार करना है, जिसके आश्रय-बिना कर्मयोगकी अन्तिम तथा अन्तसे पूर्वकी अवस्थाको कोई अवसर ही नहीं मिल सकता और न आत्माका उक्त विकास ही सध सकता है।

मोक्ष-प्राप्तिकी सदिच्छाको लेकर जब कोई सच्चा मुमुक्षु बनता है तब उसमें बन्धके कारणोंके प्रति अरुचिका होना स्वाभाविक हो जाता है। मोक्षप्राप्तिकी इच्छा जितनी तीव्र होगी बन्ध तथा बन्ध-कारणोंके प्रति अरुचि भी उसकी उतनी ही बढ़ती जायगी और वह बन्धनोंको तोड़ने, कम करने, घटाने एवं बन्ध कारणोंको मिटानेके समुचित प्रयत्नमें लग जायगा, यह भी स्वाभाविक है। सब से बड़ा बन्धन और दूसरे बन्धनोंका प्रधान कारण 'मोह'

तपस्वीका एक सुन्दर संक्षिप्तलक्षण ग्रन्थकार-महोदयने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समीचीनधर्मशास्त्र' (रत्नकरण्ड) में निम्न प्रकार दिया है :—

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो इन्द्रिय-विषयोंकी आशातकके वशवर्ती नहीं है, आरम्भों-से—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मोंसे—रहित है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त है और ज्ञान-ध्यानकी प्रधानताको लिये हुए तपस्यामें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।'

अब रही दयाकी बात, वह तो सारे धर्मानुष्ठानका प्राण ही है। इसीसे 'मुनौ दया-दीधिति-धर्मचक्रं' वाक्यके द्वारा योगी साधुके सारे धर्म-समूहको दयाकी किरणोंवाला बतलाया है (७८) और सच्चे मुनिको दयामूर्तिके रूपमें पापोंकी शान्ति करने वाला (७६) और अखिल प्राणियोंके प्रति अपनी दयाका विस्तार करनेवाला (८१) लिखा है। उसका रूप शरीरकी उक्त स्थितिके साथ विद्या, दम और दयाकी तत्परताको लिये हुए होता है (६४)। दयाके बिना न दम बनता है, न यम-नियमादिक और न परिग्रहका त्याग ही सुघटित होता है; फिर समाधि और उसके द्वारा कर्मबन्धनोंको काटने अथवा भस्म करनेकी तो बात ही दूर है। इसीसे समाधिकी सिद्धिके लिये जहां उभय प्रकारके परिग्रह-त्यागको आवश्यक बतलाया है वहां क्षमा-सखीवाली दया-वधूको अपने आश्रयमें रखनेकी बात भी कही गई है (१६) और अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये जहां उस आश्रमविधिको अपनानेकी बात करते हुए जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो, द्विविध-परिग्रहके त्यागका विधान किया है वहाँ उस परिग्रह-त्यागीको 'परमकरुणः'

उपद्रवसे सदा अशान्त, उद्विग्न अथवा बेचैन बना रहता है और उसे कभी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। इन दोषोंकी उत्पत्तिका प्रधान कारण उक्त कर्ममल है, और इसीसे उसे 'दोष-मूल' कहा गया है। वह पुद्गलद्रव्य होनेसे 'द्रव्यकर्म' भी कहा जाता है और उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंको 'भावकर्म' कहते हैं। इन-द्रव्य-भावरूप उभय प्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध जब आत्मासे नहीं रहता—उसका पूर्णतः विच्छेद हो जाता है—तभी आत्माको असली सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके प्रायः सभी गुण विकसित हो उठते हैं। यह सुख-शान्ति आत्मा-में बाहरसे नहीं आती और न गुणोंका कोई प्रवेश ही बाहरसे होता है, आत्माकी यह सब निजी सम्पत्ति है जो कर्ममलके कारण आच्छादित और विलुप्तसी रहती है और उस कर्ममलके दूर होते ही स्वतः अपने असली रूपमें विकासको प्राप्त हो जाती है। अतः इस कर्मफलको दूर करना अथवा जलाकर भस्म कर देना ही कर्मयोगका परम पुरुषार्थ है। वह परमपुरुषार्थ योग-बलका सातिशय प्रयोग है, जिसे 'निरुपमयोगबल' लिखा है और जिसके उस प्रयोगसे समूच कर्ममलको भस्म करके उस अभव-सौख्यको प्राप्त करनेकी घोषणा की गई है जो संसारमें नहीं पाया जाता (११५)। इस योगके दूसरे प्रसिद्ध नाम प्रशस्त (सातिशय) ध्यान (८३), शुक्लध्यान (११०) और समाधि (४, ७७) हैं। कर्मदहन-गुण-सम्पन्न होनेसे इस योग, ध्यान अथवा समाधिको, जो कि एक प्रकारका तप है, अग्नि (तेज) कहा गया है[1]। इसी अग्निमें उक्त पुरुषार्थ-द्वारा कर्ममलको जलाया जाता है, जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

---

१. कर्म-छेदनकी शक्तिसे भी सम्पन्न होनेके कारण इन योगादिक-को कहीं कहीं खड्ग तथा चक्रकी भी उपमा दी गई है। यथा :—

उन्हें अपने आत्मनगरसे निकाल बाहर करना चाहिये अथवा यों कहिये कि क्रोधादिरूप न परिणमनेका दृढ संकल्प करके उनके बहिष्कारका प्रयत्न करना चाहिये। इसीको अन्तरंग परिग्रहका त्याग कहते हैं।

अन्तरंग परिग्रहको जिसके द्वारा पोषण मिलता है वह बाह्य परिग्रह है और उसमें संसारकी सभी कुछ सम्पत्ति और विभूति शामिल है। इस बाह्य सम्पत्ति एवं विभूतिके सम्पर्कमें अधिक रहनेसे रागादिक की उत्पत्ति होती है, ममत्व-परिणामको अवसर मिलता है, रक्षण वर्द्धन और विघटनादि-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा आकुलताएँ घेरे रहती हैं, भय बना रहता है, जिन सबके प्रतिकारमें काफी शक्ति लगानी पड़ती है तथा आरम्भ जैसे सावद्य कर्म करने पड़ते हैं और इस तरह उक्त सम्पत्ति एवं विभूतिका मोह बढ़ता रहता है। इसीसे इस सम्पत्ति एवं विभूतिको बाह्य परिग्रह कहा गया है। मोहके बढ़नेका निमित्त होनेसे इन बाह्य पदार्थोंके साथ अधिक सम्पर्क नहीं बढ़ाना चाहिये, आवश्यकतासे अधिक इनका संचय नहीं करना चाहिये। आवश्यकताओंको भी बराबर घटाते रहना चाहिये। आवश्यकताओंकी वृद्धि बन्धनोंकी ही वृद्धि है ऐसा समझना चाहिये और आवश्कतानुसार जिन बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थोंके साथ सम्पर्क रखना पड़े उनमें भी आसक्तिका भाव तथा ममत्व-परिणाम नहीं रखना चाहिये। यही सब बाह्य परिग्रहका एकदेश और सर्वदेश त्याग है। एकदेश त्याग गृहस्थियोंके लिये और सर्वदेश त्याग मुनियोंके लिये होता है।

इन दसों प्रकारके परिग्रहोंके पूर्ण त्याग-बिना वह समाधि नहीं बनती जिसमें चारों घातिया कर्मप्रकृतियोंको भस्म किया

जाता है[1] और न उस अहिंसाकी सिद्धि ही होती है जिसे 'परम-ब्रह्म' बतलाया गया है[2]। अतः समाधि और अहिंसा परमब्रह्म दोनोंकी सिद्धिके लिये—दोनों प्रकारके परिग्रहोंका, जिन्हें 'ग्रन्थ' नामसे उल्लेखित किया जाता है, त्याग करके नैर्ग्रन्थ्य-गुण अथवा अपरिग्रह-व्रतको अपनानेकी बड़ी जरूरत होती है। इसी भावको निम्न दो कारिकाओंमें व्यक्त किया गया है—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चाऽयुजत् ॥१६॥

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

---

१ इसी बातको लेकर विप्रवंशाग्रणी श्रीपात्रकेशरी स्वामीने, जो स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम'को प्राप्त करके जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे, अपने स्तोत्रके निम्न पद्यमें परिग्रही जीवोंकी दशाका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए, लिखा है कि 'ऐसे परिग्रहवशवर्ति-कलुषात्माओंके परम शुक्लरूप सद्ध्यानता बनती कहां है'?—

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती।
ममत्वमथ चोरतः स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥

२ उभय-परिग्रह-वर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति
द्विविध-परिग्रह-वहनं हिंसेति जिन-प्रवचनज्ञाः ॥११८॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रसूरिः

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधिरतः। ११९॥

यह परिग्रह-त्याग उन साधुओंसे नहीं बनता जो प्राकृतिक-वेषके विरुद्ध विकृत वेष तथा उपाधिमें रत रहते हैं। और यह त्याग उस तृष्णा-नदीको सुखानेके लिये ग्रैष्मकालीन सूर्यके समान है, जिसमें परिश्रमरूपी जल भरा रहता है और अनेक प्रकारके भयोंकी लहरें उठा करती है।

दृष्टिविकारके मिटनेपर जब बन्धनोंका ठीक भान हो जाता है, शत्रु-मित्र एवं हितकर-अहितकरका भेद साफ नजर आने लगता है और बन्धनोंके प्रति अरुचि बढ़ जाती है तथा मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा तीव्रसे तीव्रतर हो उठती है तब उस मुमुक्षुके सामने चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान हो जाता है, उसे उसमें कुछ भी रस अथवा सार मालूम नहीं होता, और इसलिये वह उससे उपेक्षा धारण कर—बधू वित्तादि सभी सुखरूप समझी जानेवाली सामग्री एवं विभूतिका परित्याग कर—जंगलका रास्ता लेता है और अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये अपरिग्रहादि-व्रतस्वरूप 'दिगम्बरी' जिनदीक्षाको अपनाता है—मोक्षकी साधनाके लिये निर्ग्रन्थ साधु बनता है। परममुमुक्षुके इसी भाव एवं कर्तव्यको श्रीवृषभजिन और अरजिनकी स्तुतिके निम्न पद्योंमें समाविष्ट किया गया है :—

विहाय यः सागर-वारिवाससं
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥८८॥

समस्त बाह्य परिग्रह और गृहस्थ-जीवनकी सारी सुख-सुविधाओंको त्यागकर साधु-मुनि बनना यह मोक्षके मार्गमें एक बहुत बड़ा कदम उठाना होता है। इस कदमको उठानेसे पहले मुमुक्षु कर्मयोगी अपनी शक्ति और विचार-सम्पत्तिका खूब सन्तुलन करता है और जब यह देखता है कि वह सब प्रकारके कष्टों तथा उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सह लेगा तभी उक्त कदम उठाता है और कदम उठानेके बाद बराबर अपने लक्ष्यकी ओर सावधान रहता एवं बढ़ता जाता है। ऐसा होनेपर ही वह तृतीय-कारिका में उल्लेखित उन 'सहिष्णु' तथा 'अच्युत' पदोंको प्राप्त होता है, जिन्हें ऋषभदेवने प्राप्त किया था, जब कि दूसरे राजा, जो अपनी शक्ति एवं विचार-सम्पत्तिका कोई विचार न कर भावुकताके वश उनके साथ दीक्षित हो गये थे, कष्ट-परिषहोंके सहनेमें असमर्थ होकर लक्ष्यभ्रष्ट एवं व्रतच्युत हो गये थे।

ऐसी हालतमें इस बाह्य-परिग्रहके त्यागसे पहले और बादको भी मन-सहित पांचों इन्द्रियों तथा क्रोध-लोभादि-कषायोंके दमनकी—उन्हें जीतने अथवा स्वात्माधीन रखनेकी—बहुत बड़ी जरूरत है। इनपर अपना (Control) होनेसे उपसर्ग-परिषहादि कष्टके अवसरोंपर मुमुक्षु अडोल रहता है, इतना ही नहीं बल्कि उसका त्याग भी भले प्रकार बनता है। और उस त्यागका निर्वाह भी भले प्रकार सधता है। सच पूछिये तो इन्द्रियादिके दमन-विना—उनपर अपना काबू किये बगैर—सच्चा त्याग बनता ही नहीं, और यदि भावुकताके वश बन भी जाय तो उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे ग्रन्थमें इस दमका महत्व

ख्यापित करते हुए उसे 'तीर्थ' बतलाया है—संसारसे पार उतरने का उपाय सुझाया है—और 'दम-तीर्थ-नायकः' तथा 'अनवद्य-विनय-दमतीर्थ-नायकः' जैसे पदों-द्वारा जैनतीर्थंकरोंको उस तीर्थ-का नायक बतला कर यह घोषित किया है कि जैनतीर्थंकरोंका शासन इन्द्रिय-कषाय-निग्रहपरक है (१०४.१२२)। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि वह दम (दमन) मायाचार रहित निष्कपट एवं निर्दोष होना चाहिये—दम्भके रूपमें नहीं (१४१)। इस दम के साथी-सहयोगी एवं सखा (मित्र) हैं यम-नियम, विनय, तप और दया। अहिंसादि व्रतानुष्ठानका नाम 'यम' है। कोई व्रता-नुष्ठान जब यावज्जीवके लिये न होकर परिमितकालके लिये होता है तब वह 'नियम' कहलाता है[1]। यमको ग्रन्थमें 'सप्रयामदमायः' (१४१) पदके द्वारा 'याम' शब्दसे उल्लेखित किया है जो स्वार्थिक 'अण्' प्रत्ययके कारण यमका ही वाचक है और 'प्र' उपसर्गके साथमें रहनेसे महायम (महाव्रतानुष्ठान) का सूचक हो जाता है। इस यम अथवा महायमको ग्रन्थमें 'अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिः (१११)' पदके द्वारा 'सुव्रत' भी सूचित किया है और वे सुव्रत अहिंसादिक महाव्रत ही हैं, जिन्हें कर्मयोगीको भले प्रकार अधिगत और अधिकृत करना होता है। विनयमें अहंकारका त्याग और दूसरा भी कितना ही सदाचार शामिल है। तपमें सांसारिक इच्छाओंके निरोधकी प्रमुखता है और वह बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्यतप अनशनादिक-रूप[2] है और वह अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिये

१ नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।—रत्नकरण्ड ८७

२ अनशनाऽवमौदर्य-व्रतपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः।—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९॥

ही किया जाता है (८३)—वही उसका लक्ष्य और ध्येय है, मात्र शरीरको सुखाना, कृश करना अथवा कष्ट पहुँचाना उसका उद्देश्य नहीं है। अन्तरंग तप प्रायश्चित्तादिरूप[1] है, जिसमें ज्ञानाराधन और ध्यान-साधनकी प्रधानता है—प्रायश्चित्तादिक प्रायः उन्हींकी वृद्धि और सिद्धिको लक्ष्यमें लेकर किये जाते हैं। ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका होता है, जिनमें पहले दो भेद अप्रशस्त (कलुषित) और दूसरे दो प्रशस्त (सातिशय) ध्यान कहलाते हैं। दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको छोड़कर प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्त करना ही इस कर्मयोगीके लिये विहित है (८३)। यह योगी तपःसाधनाकी प्रधानताके कारण 'तपस्वी' भी कहलाता है; परन्तु इसका तप दूसरे कुछ तपस्वियोंकी तरह सन्ततिकी, धनसम्पत्तिकी तथा परलोकमें इन्द्रासनादि-प्राप्तिकी आशा-तृष्णाको लेकर नहीं होता बल्कि उसका शुद्ध लक्ष्य स्वात्मोपलब्धि होता है—वह जन्म-जरा-मरण-रूप संसार-परिभ्रमणसे छूटनेके लिये ही अपने मन-वचन और कायकी प्रवृत्तियोंको तपश्चरण-द्वारा स्वाधीन करता है ४८) इन्द्रिय-विषय-सौख्यसे पराङ्मुख रहता है (८१) और इतना निस्पृह हो जाता है कि अपने देहमें भी विरक्त रहता है (७३)—उसे धोना, मांजना, तेल लगाना, कोमल शय्यापर सुलाना, पौष्टिक भोजन कराना, शृङ्गारित करना और सर्दी-गर्मी आदिकी परीषहोंसे अनावश्यकरूपमें बचाना जैसे कार्योंमें वह कोई रुचि नहीं रखता। उसका शरीर आभूषणों वेषों, आयुधों और वस्त्र-प्रावरणादिरूप व्यवधानोंसे रहित होता है और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये रहता है (९४, १२०)। ऐसे

१. प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ९, २०॥

तपस्वीका एक सुन्दर संक्षिप्तलक्षण ग्रन्थकार-महोदयने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समीचीनधर्मशास्त्र' (रत्नकरण्ड) में निम्न प्रकार दिया है :—

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो इन्द्रिय-विषयोंकी आशातकके वशवर्ती नहीं है, आरम्भोंसे—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मोंसे—रहित है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त है और ज्ञान-ध्यानकी प्रधानताको लिये हुए तपस्यामें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।'

अब रही दयाकी बात, वह तो सारे धर्मानुष्ठानका प्राण ही है। इसीसे 'मुनौ दया-दीधित-धर्मचक्रं' वाक्यके द्वारा योगी साधुके सारे धर्म-समूहको दयाकी किरणोंवाला बतलाया है (७८) और सच्चे मुनिको दयामूर्तिके रूपमें पापोंकी शान्ति करनेवाला (७६) और अखिल प्राणियोंके प्रति अपनी दयाका विस्तार करनेवाला (८१) लिखा है। उसका रूप शरीरकी उक्त स्थितिके साथ विद्या, दम और दयाकी तत्परताको लिये हुए होता है (८४)। दयाके बिना न दम बनता है, न यम-नियमादिक और न परिग्रहका त्याग ही सुघटित होता है; फिर समाधि और उसके द्वारा कर्मबन्धनोंको काटने अथवा भस्म करनेकी तो बात ही दूर है। इसीसे समाधिकी सिद्धिके लिये जहां उभय प्रकारके परिग्रह-त्यागको आवश्यक बतलाया है वहां क्षमा-सखीवाली दया-वधूको अपने आश्रयमें रखनेकी बात भी कही गई है (१६) और अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये जहां उस आश्रमविधिको अपनानेकी बात करते हुए जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो, द्विविध-परिग्रहके त्यागका विधान किया है वहां उस परिग्रह-त्यागीको 'परमकरुणः'

पदके द्वारा परमकरुणाभावसे—असाधारण-दया-सम्पत्तिसे—सम्पन्न भी सूचित किया है। इस तरह दम, त्याग और समाधि (तथा उनसे सम्बन्धित यम-नियमादिक) सबमें दयाकी प्रधानता है। इसीसे मुमुक्षुके लिये कर्मयोगके अङ्गोंमें 'दया'को अलग ही रक्खा गया है और पहला स्थान दिया गया है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने दूसरे महान ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' में कर्मयोगके इन चार अङ्गों दया, दम, त्याग और समाधिका इसी क्रमसे उल्लेख किया है[1] और साथ ही यह निर्दिष्ट किया है कि वीरजिनेन्द्रका शासन (मत) नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्वको स्पष्ट करनेके साथ साथ इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है, ये सब उसकी खास विशेषताएँ हैं और इन्हींके कारण वह अद्वितीय है तथा अखिल प्रवादियोंके द्वारा अधृष्य है-अजय्य है। जैसा कि उक्त ग्रन्थकी निम्न कारिकासे प्रकट है:—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

यह कारिका बड़े महत्वकी है। इसमें वीरजिनेन्द्रके शासनका बीज-पदोंमें सूत्ररूपसे सार संकलन करते हुए भक्तियोग और कर्मयोग दोनोंका सुन्दर समावेश किया गया है। इसका पहला चरण कर्मयोगकी, दूसरा चरण ज्ञानयोगकी और शेष तीनों चरण प्रायः भक्तियोगकी संसूच-

---

१ श्री विद्यानन्दाचार्य इस क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए टीकामें लिखते हैं— "निमित्त-नैमित्तिक-भाव-निबन्धनः पूर्वोत्तर-वचन-क्रमः। दया हि निमित्तम् दमस्य, तस्यां सत्यां तदुत्पत्तेः। दमश्च त्यागस्य (निमित्तं) तस्मिन्सति तद्घटनात्। त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्ति-सिद्धेरैकाग्रस्य समाधिविशेषस्योत्पत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेः।"

नाको लिये हुए हैं। और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि दया, दम, त्याग और समाधि इन चारोंमें वीरशासनका सारा कर्मयोग समाविष्ट है। यम, नियम, संयम, व्रत, विनय, शील, तप, ध्यान, चारित्र, इन्द्रियजय, कषायजय, परीषहजय, मोहविजय, कर्मविजय, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, त्रिदण्ड, हिंसादिविरति और क्षमादिकके रूपमें जो भी कर्मयोग अन्यत्र पाया जाता है वह सब इन चारोंमें अन्तर्भूत है—इन्हींकी व्याख्यामें उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। चुनांचे प्रस्तुत ग्रन्थमें भी इन चारोंका अपने कुछ अभिन्न संगी-साथियोंके साथ इधर इधर प्रसृत निर्देश है; जैसा कि ऊपरके संचयन और विवेचनसे स्पष्ट है।

इस प्रकार यह ग्रन्थके सारे शरीरमें व्याप्त कर्मयोग-रसका निचोड़ है—सत है अथवा सार है, जो अपने कुछ उपयोग-प्रयोगको भी साथमें लिये हुए है।

तीनों योगोंके इस भारी कथनको लिये हुए प्रस्तुत स्तोत्रपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि स्वामी समन्तभद्र कैसे और कितने उच्च कोटिके भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे और इसलिये उनके पद-चिह्नोंपर चलनेके लिए हमारा आचार-विचार किस प्रकारका होना चाहिए और कैसे हमें उनके पथका पथिक बनना अथवा आत्महितकी साधनाके साथ साथ लोक-हितकी साधनामें तत्पर रहना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० १७ - १ - १९५१

जुगलकिशोर मुख्तार

समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थके सुप्रसिद्ध कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, जिनका आसन जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों तथा लेखकों और सुपूज्य महात्माओंमें बहुत ऊंचा है। आप जैनधर्मके मर्मज्ञ थे, वीरशासनके रहस्यको हृदयङ्गम किये हुए थे, जैनधर्मकी साक्षात् जीती-जागती मूर्ति थे और वीरशासनका अद्वितीय प्रतिनिधित्व करते थे; इतना ही नहीं बल्कि आपने अपने समयके सारे दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययन कर उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और इसीसे आप सब दर्शनों, धर्मों अथवा मतोंका सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थितिरूप सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए थे और उस असत्यका निर्मूलन करनेमें भी प्रवृत्त हुए थे जो, सर्वथा एकान्तवादके सूत्रसे संचालित होता था। इसीसे महान आचार्य श्रीविद्यानन्द स्वामीने युक्त्यनुशासन-टीकाके अन्तमें आपको '**परीक्षेक्षण**'—परीक्षानेत्रसे सबको देखनेवाले—लिखा है और अष्टसहस्रीमें आपके वचन-माहात्म्यका बहुत कुछ गौरव ख्यापित करते हुए एक स्थानपर यह भी लिखा है कि—'स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रवचन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सर्वथा क्षणिक (अनित्य) ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूप एकान्त खड्डोंमें पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर मंगलमय उच्चपद प्राप्त करानेके लिए समर्थ है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रख्यात करनेवाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है

अथवा प्रेक्षावान—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा जिसकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने सम्पूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित अथवा तितर बितर कर दिया है।' और दूसरे स्थानपर यह बतलाया है कि—'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये कुनीति और कुप्रवृत्तिरूप—नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोष नीति-स्याद्वादन्यायको लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थ-समूहके संद्योतक हैं वे योगियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी नेता, शक्ति-सामर्थ्यसे सम्पन्न-विभु और सूर्यके समान देदीप्यमान-तेजस्वी श्रीस्वामी समन्तभद्र कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनोंको—विद्या और आनन्द-घनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्धज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे'। साथ ही एक तीसरे स्थानपर यह प्रकट किया है कि—'जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशसे—प्रवचनको सुनकर—महा उद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्तिसे युक्त अतिप्रसिद्ध योगिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोकहृदयोंको प्रभावित करते रहें।'

इसी तरह विक्रमकी ७वीं शताब्दीके सातिशय विद्वान श्री-अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने, अपनी अष्टशती में समन्तभद्रको 'भव्यैकलोकनयन'—भव्य जीवोंके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य—और 'स्याद्वादमार्गका पालक (संरक्षक)' बतलाते हुए

यह भी लिखा है कि—'उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है, और ऐसा लिखकर उन्हें बारबार नमस्कार किया है।

स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुतसे उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारों शक्तियाँ उनमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण उनका निर्मल यश दूर-दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस समय जितने 'कवि' थे—नये नये सन्दर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेवाले समर्थ विद्वान् थे, 'गमक' थे—दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीणबुद्धि थे, विजयकी ओर वचन-प्रवृत्ति रखनेवाले 'वादी' थे, और अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे 'वाग्मी' थे, उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी, वह चूड़ामणिके समान सर्वोपरि था और बादको भी बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ (आदिपुराण)

स्वामी समन्तभद्रके इन चारों गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था

और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये कितने ही प्रमाण-वाक्योंको 'स्वामी समन्तभद्र, नामके उस ऐतिहासिक निबन्धमें संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी विस्तृत प्रस्तावनाके अनन्तर २५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अङ्कित है और अलगसे भी विषयसूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें कुछ थोडासा ही सार[1] दिया जाता है और वह इस प्रकार है:—

(१) भगवज्जिनसेनने, आदिपुराणमें, समन्तभद्रको 'महान् कविवेधा'—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (ब्रह्मा) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे।

(२) वादिराजसूरिने, यशोधरचरितमें समन्तभद्रको 'काव्यमाणिक्योंका रोहण' (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि 'वे हमें सूक्तिरत्नोंके प्रदान करनेवाले होवें'।

(३) वादीभसिंह सूरिने, गद्यचिन्तामणिमें समन्तभद्रमुनीश्वरका जयघोष करते हुए उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाया है और लिखा है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्त-रूप पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।'

---

१. इस सारके अधिकांश मूल वाक्योंका परिचय 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' के अन्तर्गत 'समन्तभद्र-स्मरण' नामक प्रकरणसे भी प्राप्त किया जा सकता है।

(४) वर्द्धमानसूरिने, वराङ्गचरितमें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' 'कुवादिविद्या-जय-लब्ध-कीर्ति, और 'सुतर्कशास्त्रामृत-सारसागर' लिखा है और यह प्रार्थना की है कि 'वे मुझ कवित्व-कांक्षी पर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे।'

(५) श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवमें, यह प्रकट किया है कि 'समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहां निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहां वे लोग खद्योत-जुगनूकी तरह हँसीके ही पात्र होते हैं जो थोडेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता (नूतन संदर्भकी रचना) करके गर्व करने लगते हैं।'

(६) भट्टारक सकलकीर्तिने, पार्श्वनाथचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसारमें सब ओरसे मंगलमय है और सारी जनताका उपकार करनेवाली है उन कवियोंके ईश्वर समन्तभद्रको सादर वन्दन (नमस्कार) करता हूँ।'

(७) ब्रह्मअजितने, हनुमच्चरितमें, समन्तभद्रको 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज-खुजलीको मिटानेके लिये अद्वितीय 'महौषधि' बतलाया है।

(८) कवि दामोदरने, चन्द्रप्रभचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी भारतीके प्रतापसे—ज्ञानभण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएँ करने वालोंके शिरोमणि—योगी समन्तभद्रकी मैं स्तुति करता हूँ।'

(९) वसुनन्दी आचार्यने, स्तुतिविद्याकी टीकामें, समन्तभद्रको

'सद्बोधरूप'—सम्यग्ज्ञानकी-मूर्ति—और 'वरगुणालय'—उत्तम-गुणोंका आवास—बतलाते हुए यह लिखा है कि 'उनके निर्मल-यशकी कान्तिसे ये तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।'

(१०) विजयवर्णीने, शृङ्गारचन्द्रिकामें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनके द्वारा रचे गये प्रबन्ध-समूहरूप सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलङ्काररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूप हँस विचरते हैं, सरस्वती-क्रीडा किया करती है'—सरस्वती देवीके क्रीडास्थल (उपाश्रय) होनेसे समन्तभद्रके सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष, पवित्र एवं महती शोभासे सम्पन्न हैं।'

(११) अजितसेनाचार्यने, अलङ्कारचिन्तामणिमें, कई पुरातन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनसे समन्तभद्रके वाद-माहात्म्यका कितना ही पता चलता है। एक पद्यसे मालूम होता है कि 'समन्तभद्रकालमें कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियां अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब योगी समन्तभद्रके सामने आते थे तो मधुरभाषी बनजाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था।' और यह सब समन्तभद्रके असाधारण-व्यक्तित्वका प्रभाव था।

दूसरे पद्यसे यह जाना जाता है कि 'जब महावादी श्रीसमन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादीजन नीचामुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर—

प्रतिवादियोंपर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।'

और एक दूसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि—वादी-समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान्की—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुसजाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा (बात) ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वह पद्य, जो कविहस्तमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी पाया जाता है, इस प्रकार है—

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथाऽन्येषाम्॥

यह पद्य शकसंवत् १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे पाठभेदके साथ उपलब्ध होता है। वहां 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानपर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'तव सदसि भूप! कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है, और इसे समन्तभद्रके वादारम्भ-समारम्भ-समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है। पद्यके उसरूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होनेपर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि 'धूर्जटि-जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है'?

(१२) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रका

जयघोष करते हुए उनके सूक्तिसमूहको—सुन्दर प्रौढ युक्तियोंको लिये हुए प्रवचनको—वादीरूपी हाथियोंको वशमें करनेके लिये 'वज्रांकुश' बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि 'उनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था।'

(१३) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में भद्रमूर्ति-समन्तभद्रको जिनशासनका प्रणेता (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके कठोरपातसे प्रतिवादीरूप पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।'

(१४) तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में समन्त-भद्रके एक वादका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जिन्होंने वारा-णसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—अनेकान्त-शासनसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं?—सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।'

(१५) समन्तभद्रके गमकत्व और वाग्मित्व-जैसे गुणोंका विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे भले प्रकार अनुभवमें लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख-वाक्योंपरसे भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणीका कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करनेके लिये लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेख-वाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत पाये जाते हैं। कवि नागराजका 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' तो इसी विषयको लिये हुए है और वह 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' में वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। यहां दो तीन उल्लेखोंका और

सूचन किया जाता है, जिससे समन्तभद्रकी गमकत्वादि-शक्तियों और उनके वचनमाहात्म्यका और भी कुछ पता चल सके—

(क) श्रीवादिराजसूरिने, न्यायविनिश्चयालङ्कारमें. लिखा है कि 'सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझमें नहीं आता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे--अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्ष-नयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।'

(ख) श्रीवीरनन्दी आचार्यने, चन्द्रप्रभचरित्रमें, लिखा है कि 'गुणोंसे—सूतके धागोंसे—गूँथी हुई निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हारयष्टिको—श्रेष्ठ मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझकर हृदयङ्गम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार. विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव मानते और अहो-भाग्य समझते रहे हैं। अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके सातिशय वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।'

(ग) श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रहमें, यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभव-का मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेवके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।'

ऊपरके इन सब उल्लेखोंपरसे समन्तभद्रकी कवित्वादि शक्तियोंके साथ उनकी वादशक्तिका जो परिचय प्राप्त होता है उससे सहज ही यह समझमें आ जाता है कि वह कितनी असा-धारण कोटिकी तथा अप्रतिहत-वीर्य थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, जो अभी तक भी अक्षुण्णरूपसे चला जाता है—जो भी निष्पक्ष विद्वान आपके वादों अथवा तर्कोंसे परिचित होता है वह उनके सामने नत-मस्तक हो जाता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुन्दुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वाद-प्रीति, लोगोंके अज्ञानभावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभभावना और जैन सिद्धान्तोंके महत्वको विद्वानोंके हृदय-पटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीला-स्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें सन्तोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञानभावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों

(खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इसलिये उन्हें जहां कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता चलता था तो वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका[1] बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथा नियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आ जाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। यदि कभी कोई भी मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था।

इस तरह, समन्तभद्र भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशों में, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंह के समान क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते

---

१ उन दिनों—समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० ४००) और ह्वेनत्सग (ई० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था तो वह वाद-घोषणाके रूपमें उस डंकेको बजाता था।

—हिस्ट्री आफ् कनडीज़ लिटरेचर

हुए 'करहाटक' नगर में भी पहुँचे थे, जो उस समय बहुतसे भटों-से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजापर अपने वाद-प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेल्गोल-के शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्मपरिचयसे यह मालूम होता है कि करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरों-में वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्रनगर, मालव (मालवा) सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर प्रायः किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था।[1]

---

१ समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर अपनी 'स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनिज़्म' नामकी पुस्तक में लिखते हैं—

'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहां कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे

यहाँ तकके इस सब परिचय पर से स्वामी समन्तभद्रके असाधारण गुणों, उनके अनुपम प्रभाव और लोकहितकी भावनाको लेकर धर्मप्रचारके लिये उनके सफल देशाटनादिका कितना ही हाल तो मालूम हो गया; परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समन्तभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसके कारण वे सदा इस बातके लिये भाग्यशाली रहे हैं कि विद्वान लोग उनकी वाद-घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था। वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे चाहे-अनचाहे विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मान-रक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते; फिर भी समन्तभद्रके साथमें यह सब प्रायः कुछ भी नहीं होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है, जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और मुझे समन्तभद्रके साहित्यादिक-परसे उसका विशेष अनुभव हुआ है उसके आधारपर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि समन्तभद्र-की इस सारी सफलताका रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्र की निर्मलता और उनकी वाणी के महत्व में संनिहित है,

सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा (He met with no opposition from other sects wherever he went)।

अथवा यों कहिये कि यह सब अन्तःकरणकी पवित्रता तथा चरित्र की शुद्धताको लिये हुए उनके वचनोंका ही महात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमासके हैं। समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब प्राय: दूसरोंकी हित-कामनाको ही साथमें लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखाने रूप कुत्सित भावनाकी गन्ध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्गपर आरूढ थे और चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहिचानें और उसपर चलना आरम्भ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद तथा कष्ट होता था[1]। और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छा के अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्म-हित-साधनके बाद दूसरोंका हित-

---

१ आपके इस खेदादिको प्रकट करने वाले तीन पद्य, नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७

—युक्त्यनुशासन

इन पद्यों का आशय उस अनुवादादिक परसे जानना चाहिये जो ग्रन्थमें आठ पृष्ठों पर दिया है।

साधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी योग्यताके साथ उनका सम्पादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी. वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे और न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शान्ति भंग होती थी। उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; वे हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे। बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्वपर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुर भाषण तो उनकी प्रकृति में ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे; अपशब्द-मदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समन्तभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इसलिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समन्तभद्र स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे; उन्होंने सर्वज्ञवीतराग भगवान महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपमें स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—सदैव उनकी यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको. बिना परीक्षा किये. केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ-युक्तियोंके द्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये॥ ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानों

को, निष्पक्षदृष्टिसे, स्व-पर-सिद्धान्तोंपर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे—मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्गको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना 'एकान्त' है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है—सर्वथा सत्-असत्-एक अनेक-नित्य-अनित्यादि संम्पूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्त-तत्त्व ही उसका विषय[1] है।

अपनी घोषणाके अनुसार, समन्तभद्र प्रत्येक विषयके गुण दोषोंको स्याद्वाद-न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्तपक्षोंके माननेसे क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद न्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्व-का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है[2]। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखानेकी तरह प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध

---

१ सर्वथासदसदेकानेक-नित्यादि-सकलैकान्त-प्रत्यनीकाऽनेकान्त-तत्त्व-विषयः स्याद्वादः। —देवागमवृत्तिः

२ इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समन्तभद्रका 'देवागम' ग्रन्थ देखना चाहिये, जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं।

कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह मोहन-मंत्र था जिससे समन्तभद्रको दूसरे सम्प्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें भारी सफलताकी प्राप्ति हुई।

समन्तभद्रकी इस सफलताका एक समुच्चय उल्लेख श्रवण-बेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में, जिसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं, और जो शक संवत् १०५० में उत्कीर्ण हुआ है उसमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है और उससे यह मालूम होता है कि 'मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग इस कलिकालमें पुनः सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है' :—

> वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः।
> आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

इस पद्यके पूर्वार्धमें समन्तभद्रके जीवनकी कुछ खास घटनाओंका उल्लेख है और वे हैं—१ घोर तपस्या करते समय शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति, २ उस व्याधिकी बडी बुद्धिमत्ताके साथ शान्ति, ३ पद्मावती नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा समन्तभद्रको उदात्त (ऊँचे) पदकी प्राप्ति और ४ अपने मन्त्ररूप वचनबलसे अथवा योग-सामर्थ्यसे चन्द्रप्रभ-बिम्बकी आकृष्टि।

ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं, उनके प्रदर्शन और विवेचनका इस संक्षिप्त परिचयमें अवसर नहीं है और इसलिये उन्हें 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' नामक उस निबन्धसे जानना चाहिये जो 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासमें ४२ पृष्ठों पर इन पंक्तियोंके लेखक-द्वारा लिखा गया है।

समन्तभद्रकी सफलताका दूसरा समुच्चय उल्लेख बेलूरतालुके-के कनड़ी शिलालेख नं० १७ (E. C. V) में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक संवत १०५९ दिया है। इस शिलालेखमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्र स्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धि-प्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् तत्...(ती) र्त्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर...।"

वीरजिनेन्द्रके तीर्थकी अपने कलियुगी समयमें हजारगुणी वृद्धि करनेमें समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे समन्तभद्रकी असाधारण सफलता और उसके लिये उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड़ क्षमताका पता चलता है। साथ ही, उनका महान् व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव-जैसे महान प्रभावक आचार्यने 'तीर्थं प्रभावि काले कलौ'-जैसे शब्दों-द्वारा, कलिकालमें समन्तभद्रकी इस तीर्थ-प्रभावनाका उल्लेख बड़े

गौरवके साथ किया है; यही कारण है कि श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके वचनोंको वीरभगवानके वचनोंके समान प्रकाशमान (प्रभावादिसे युक्त) बतला रहे हैं। और शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें 'जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः' पदके द्वारा समंतभद्रको भगवान महावीरके ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ाने वाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात् यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रके उदयका निमित्त पाकर वीरभगवानका तीर्थसमुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवसे भी पूर्ववर्ती महान् विद्वानाचार्य श्रीसिद्धसेनने 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथम द्वात्रिंशिकामें, 'अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः'—जैसे वाक्यके द्वारा समन्तभद्रका 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' (सर्वज्ञ आप्तकी परीक्षा करनेमें समर्थ पुरुष) के रूपमें उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्तसे वीरभगवानमें स्थित हुआ बतलाते हुए, अगले एक पद्यमें वीरके उस यशकी मात्राका बड़े ही गौरवके साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ' और 'प्रसमिद्धचेता' विशेषणोंके पात्र समन्तभद्र जैसे प्रशिष्योंके द्वारा प्रथित किया गया है।

अब मैं संक्षेपमें ही इतना और बतला देना चाहता हूँ कि

---

१. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।'—हरिवंशपुराण

२. अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥ १५ ॥

सिद्धसेन-द्वारा समन्तभद्रके इस उल्लेखका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये देखो, 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावनामें प्रकाशित 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका बृहत् निबन्ध पृ० १५४।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे, उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे[1]। वे जहां क्षत्रियोचित तेजसे प्रदीप्त थे वहाँ आत्महित-साधना और लोकहितकी भावनासे भी ओत-प्रोत थे, और इसलिये घर-गृहस्थोमें अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। वे राज्य-वैभवके मोहमें न फँसकर घरसे निकल गये थे, और कांची (दक्षिणकाशी) में जाकर 'नग्नाटक' (नग्न) दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने एक परिचयपद्यमें अपनेको काँचीका 'नग्नाटक' प्रकट किया है और साथ ही 'निर्ग्रन्थजैनवादी' भी लिखा है—भले ही कुछ परिस्थितियोंके वश वे कतिपय स्थानोंपर दो एक दूसरे साधु-वेष भी धारण करनेके लिये बाध्य हुए हैं, जिनका पद्यमें उल्लेख है, परन्तु वे सब अस्थायी थे और उनसे उनके मूलरूपमें, कर्दमाक्त-मणिके समान, कोई अन्तर नहीं पड़ा था—वे अपनी श्रद्धा और संयमभावनामें बराबर अडोल रहे हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः[2] दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

---

१ 'जैसा कि उनकी 'आप्तमीमाँसा' कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न 'पुष्पिका-वाक्यसे जाना जाता है, जो श्रवणबेल्गोलके श्रीदौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

'इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।'

२ यह पद अग्रोल्लेखित जीर्णगुटकेके अनुसार 'शाकभक्षी' है।

यह पद्यभी 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता' नामके परिचय-पद्यकी तरह किसी राजसभामें ही अपना परिचय देते हुए कहा गया है और इसमें भी वादके लिये विद्वानोंको ललकारा गया है और कहा गया है कि 'हे राजन्! मैं तो वास्तवमें जैननिर्ग्रन्थ वादी हूँ, जिस किसीकी भी मुझसे वाद करनेकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।'

पहलेसे समन्तभद्रके उक्त दो ही पद्य आत्मपरिचयको लिये हुए मिल रहे थे; परन्तु कुछ समय हुआ, 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्राचीन प्रतियोंको खोजते हुए, देहली-पंचायतीमन्दिरके एक अति-जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे मुझे एक तीसरा पद्य भी उपलब्ध हुआ है, जो स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके अनन्तर संग्रहीत है और जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित (गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्) ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

यह पद्य बड़े ही महत्वका है। इसमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख

मिलता है। चौथा 'पण्डित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्य की तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः 'गमक' (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। अतः यहां गमकत्व-जैसे गुणविशेषका ही वह द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अङ्गहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमंत्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें **'स्वमन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः'**-जैसे विशेषणोंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्र-विशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य-(२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्गवैद्यक-विषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण **'आज्ञासिद्ध'** और **'सिद्धसारस्वत'** तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आजाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते

हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्र-वलया पृथ्वी पर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है'। इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य संनिहित है जो स्थान स्थान पर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी और जिसका कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी, जिसकी अनेकान्तदृष्टि-द्वारा अनन्य-आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय-विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

समन्तभद्र, श्रद्धा और गुणज्ञता दोनोंको साथमें लिये हुए, बहुत बड़े अर्हद्भक्त थे. अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियां रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी और उन्होंने स्तुति-विद्यामें **'सुस्तुत्यां व्यसनं'** वाक्यके द्वारा अपनेको वैसी स्तुतियां रचनेका व्यसन बतलाया है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे उनकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'स्तुतिविद्या' को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन तो आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इनमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती। समन्त-भद्रने अपने स्तुतिग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार और विकास किया है, और इसी लिये वे 'स्तुतिकार'

कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था[१]। अपनी इस अर्हद्भक्ति और लोकहितसाधनकी उत्कट भावनाओंके कारण वे आगेको इस भारतवर्षमें 'तीर्थङ्कर' होनेवाले हैं, ऐसे भी कितने ही उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं[२]। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो उनके 'पदर्द्धिक' अथवा 'चारणऋद्धि' से सम्पन्न होनेके सूचक हैं[३]।

श्रीसमन्तभद्र 'स्वामी' पदसे खास तौरपर अभिभूषित थे और यह पद उनके नामका एक अंग ही बन गया था। इसीसे विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अनेक स्थानोंपर केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। निःसन्देह यह पद उस समयकी दृष्टिसे[४] आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, योगियोंके स्वामी थे, ऋषि-मुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोक-हितैषियोंके स्वामी थे। आपने अपने अवतारसे इस भारतभूमिको विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीमें पवित्र किया है। आपके अवतारसे भारतका गौरव बढ़ा है और इसलिये श्री शुभचन्द्राचार्यने, पाण्डवपुराणमें, आपको जो 'भारतभूषण' लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है।

देहली — जुगलकिशोर मुख्तार

ता० ४-७-१९५१

१-३ देखो, स्वामी समन्तभद्र पृ० ९६, ९२, ९१ (फुटनोट)

४ आजकल तो 'कवि' और 'पण्डित' पदोंकी तरह 'स्वामी' पदका भी दुरुपयोग होने लगा है।

विषय-सूची

मंगलाचरण

तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभाव-कृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्त्रधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ।।

❀ ❀ ❀

येनाऽशेष-कुनीति-वृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलङ्क-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ-सार्थ-द्युतः ।
स श्रीस्वामि-समन्तभद्र-यतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानन्द-घन-प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद-मार्गाग्रणीः ।।

❀ ❀ ❀

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारु-चरिताऽनघ-वाक्स्वरूम् ।
तस्य स्वयम्भु-कृतिमप्रतिमां गुणाढ्यां
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्ध्यै ।।

——